❖ चिन्तन : मनन · अनुशीलन

❖ प्रवचनकार
आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा.

❖ प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
'समता भवन', रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर– 334005 (राज)

❖ सस्करण
प्रथम – 1970
द्वितीय – 2003

❖ अर्थ सहयोगी
श्री सुन्दरलालजी दुगड, कोलकाता

❖ मूल्य –
15.00 रुपये मात्र

❖ मुद्रक –
तिलोक प्रिटिग प्रेस
मोहता अस्पताल के पास, बीकानेर (राज)
फोन – 2521256

प्रकाशकीय

युगद्रष्टा, क्रातिकारी, जैनाचार्य पूज्य आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा का जीवन जैन ही नहीं वरन् भारतीय इतिहास का वह स्वर्णिम अध्याय है जो युगो–युगो तक पढा जाता रहेगा। परतन्त्रता की बेडियो मे जकडे भारतीय समाज को उन्होने स्वतन्त्रता का बोध कराया और दासता की जजीरों को तोड कर फेकने के लिए ललकारा। राष्ट्रधर्मी आचार्यश्री की कालजयी वाणी आज भी उतनी ही प्रासगिक है जितनी परतन्त्र भारत के समय थी।

जैनाचार्य जवाहर के विशाल प्रवचन साहित्य मे से कुछेक चुने हुए विचार–कण प्रस्तुत चिन्तन मनन अनुशीलन मे सगृहीत हैं जो पाठको के लिए जीवन–उन्नयन मे पर्याप्त सहायक हो सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के पढने के बाद हम पाठको से आशा करेंगे कि वे आचार्यश्री के विशाल प्रवचन–साहित्य को भी अवश्य पढेगे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में समाजसेवी प्रबुद्धचेता श्रीमान सुन्दरलालजी दुगड, कलकत्ता का आर्थिक सौजन्य प्राप्त हुआ। तदर्थ वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं। श्री देवकुमारजी जैन के भी आभारी हैं कि उन्होंने कृति का सुन्दर सपादन किया।

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन जन–जन के लिए उपयोगी बने, इसी सद्भावना के साथ–

शातिलाल साड
सयोजक -
श्री साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ
समता भवन, बीकानेर

चिन्तन : मनन · अनुशीलन

❖ प्रवचनकार

आचार्यश्री जवाहरलालजी म. सा.

❖ प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

'समता भवन' रामपुरिया मार्ग,

बीकानेर– 334005 (राज)

❖ सस्करण

प्रथम – 1970

द्वितीय – 2003

❖ अर्थ सहयोगी

श्री सुन्दरलालजी दुगड, कोलकाता

❖ मूल्य –

15.00 रुपये मात्र

❖ मुद्रक –

तिलोक प्रिटिग प्रेस

मोहता अस्पताल के पास बीकानेर (राज)

फोन – 2521256

प्रकाशकीय

युगद्रष्टा, क्रातिकारी, जैनाचार्य पूज्य आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा का जीवन जैन ही नहीं वरन् भारतीय इतिहास का वह स्वर्णिम अध्याय है जो युगो–युगो तक पढा जाता रहेगा। परतन्त्रता की बेडियो मे जकडे भारतीय समाज को उन्होने स्वतन्त्रता का बोध कराया और दासता की जजीरों को तोड कर फेकने के लिए ललकारा। राष्ट्रधर्मी आचार्यश्री की कालजयी वाणी आज भी उतनी ही प्रासगिक है जितनी परतन्त्र भारत के समय थी।

जैनाचार्य जवाहर के विशाल प्रवचन साहित्य मे से कुछेक चुने हुए विचार–कण प्रस्तुत चिन्तन मनन अनुशीलन मे सगृहीत हैं जो पाठकों के लिए जीवन–उन्नयन मे पर्याप्त सहायक हो सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के पढने के बाद हम पाठको से आशा करेंगे कि वे आचार्यश्री के विशाल प्रवचन–साहित्य को भी अवश्य पढेगे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में समाजसेवी प्रबुद्धचेता श्रीमान सुन्दरलालजी दुगड़, कलकत्ता का आर्थिक सौजन्य प्राप्त हुआ। तदर्थ वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं। श्री देवकुमारजी जैन के भी आभारी हैं कि उन्होंने कृति का सुन्दर सपादन किया।

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन जन–जन के लिए उपयोगी बने, इसी सद्भावना के साथ–

शांतिलाल साड
सयोजक
श्री साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ
समता भवन, बीकानेर

अर्थ सहयोगी

शासन समर्पित दुगड़ परिवार

देशनोक निवासी श्री मोतीलालजी दुगड आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म सा एव श्री अखिल भारतवर्षीय जैन सघ, वीकानेर के स्थापना काल से ही एकनिष्ठ सुश्रावक रहे हैं, जिन्होंने सघ/शासन की चहुमुखी प्रगति में अहम् भूमिका का निर्वहन किया है। श्रीमद् जवाहराचार्य, श्री गणेशाचार्य, श्री नानेशाचार्य एव आचार्य श्रीरामेश के श्रद्धालु आस्थावान एव समर्पित भक्तो में श्री दुगडजी का परिवार अग्रणी व प्रमुख है। शासननिष्ठ, अनन्य गुरुभक्त, सघ समर्पित श्री मोतीलालजी दुगड़ के ज्येष्ठ पुत्र श्री सुन्दरलालजी दुगड हैं, जिनका सघ एव समाज के कर्मठ कार्यकर्ताओं में महत्त्वपूर्ण व विशिष्ट स्थान है।

श्री सुन्दरलालजी दुगड़ जैन समाज के उन युवा उद्योगपतियों में प्रमुख व अग्रपक्त्या हैं, जिन्होंने विगत सार्द्धदशक में अपने अथक परिश्रम, कौशल, प्रतिभा तथा औदार्य से न केवल औद्योगिक जगत् में अपनी पृथक् पहचान बनाई है, अपितु अपनी धर्मनिष्ठता, सदाचारिता, सदाशयता, सच्चरित्रता एव जनहितैपिता से शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में भी श्लाघनीय, स्तुत्य व अनुकरणीय आदर्श स्थापित किया है।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ के पूर्व उपाध्यक्ष रहे श्री सुन्दरलालजी दुगड़ सम्प्रति अनेक सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक तथा जन कल्याणकारी संस्थानों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं तथा ट्रस्टी, मत्री, अध्यक्ष आदि पदों पर रहते हुए बहुआयामी सेवाकार्यों में सलग्न हैं। आपने भवन निर्माण का कार्यारम्भ कर व्यावसायिक जगत में प्रवेश किया तथा आर डी बिल्डर्स एण्ड डेवलपर्स की स्थापना की और अपनी दूरदर्शिता, कार्यकुशलता, त्वरित निर्णय-क्षमता तथा प्रतिभा के बल पर आज भवन निर्माण सहित विभिन्न व्यवसायों का सुसचालन कर रहे हैं। आर डी बिल्डर्स एण्ड डेवलपर्स नामक इनका प्रतिष्ठान आर बी डी इन्डस्ट्रीज में परिवर्तित होकर औद्योगिक क्षेत्र में सुस्थापित, प्रतिष्ठित हो इनके गतिशील चुम्बकीय, सफल व्यक्तित्व की कथा कह रहा है।

समय की धारा एव नब्ज पहचान कर साफल्य के सोपान हस्तगत करने वाले श्री दुगड़ प्रगतिशील विचारों के धनी हैं और युवा उद्योगरत्न रूप में सम्मानित व समादृत हैं। 'दिया दूर नहीं जात' कथन का अनुसरण कर आपने अपनी जन्मभूमि देशनोक (राजस्थान) में अनेक सस्थानों के उत्थान एव विकास में प्रमुख भूमिका का निर्वहन किया है। आपके प्रभूत अनुदान से कपासन (उदयपुर) में आचार्य नानेश रूप रेखा रामेश गौशाला की स्थापना हुई है तथा पी बी एम हास्पिटल, बीकानेर में वार्ड सरक्षण का सेवा सास्थानिक कार्य प्रगति पर है।

सरलता, सहजता, मिलनसारिता विनम्रता एव मधुस्मिता गुणों से समन्वित श्री सुन्दरलालजी दुगड़ का व्यक्तित्व प्रदर्शन, आडम्बर एव विज्ञापन से सर्वथा दूर सादगी, सेवा तथा उदारता का प्रतीक है। कोलकाता के जैन-अजैन समाज में आपको अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त है। अनेक राजनेताओं एव अति विशिष्ट महानुभावों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी ये एक निरभिमानी निष्काम, निस्वार्थ, कर्मठ कार्यकर्ता के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। कोलकाता एव देशनोक का धर्म और सेवा-क्षेत्रीय ऐसा कोई सस्थान तथा सगठन नहीं है जो इनके उदार सहयोग एव सक्रिय व्यक्तित्व से लाभान्वित नहीं होता हो।

आपके सुपुत्र श्री विनोदजी दुगड़ भी अपने धर्म कर्तव्यनिष्ठ पितृ के पदचिह्नों पर चलकर समाज की सेवा में अग्रणी एव उत्साहित रहते हैं।

ऐसे शासन समर्पित परिवार से सघ गौरवान्वित है। सत् साहित्य के प्रकाशन हेतु प्रदत्त आर्थिक सहयोग इस परिवार की प्रशस्त एव प्रगाढ़ धर्मभावना का प्रतीक है। एतदर्थ सघ का आभार व साधुवाद।

□□

अनुक्रम

मानवीय जीवन : धर्म की आवश्यकता

आज कुछ लोगो को धर्म अनावश्यक एव भाररूप प्रतीत होने लगा है। किन्तु यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि उन्होने धर्म के ठीक–ठीक स्वरूप को समझा नहीं है। वास्तव मे धर्म के बिना जीवन भी नहीं टिक सकता। आज के युवक सुधार करना चाहते हैं, पर धर्म की सहायता के बिना सुधार होना सभव नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म की आवश्यकता है।

आज धर्म को भाररूप मानने का एक कारण यह भी है कि लोग धर्म का फल रुपये की भाति तत्काल और प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। वे यह दलील देते हैं कि धर्म का फल यदि परलोक मे मिलता है तो उससे हमे क्या लाभ ? यहा जैसे एक रुपये का सवा रुपया किया जा सकता है, और उससे आनन्दोपभोग किया जा सकता है, इसी प्रकार का लाभ यदि धर्म से भी मिले तो उसे लाभ कहना चाहिए अन्यथा वह निरा भार ही है। इस प्रकार धर्म को लोग भारस्वरूप समझते हैं, किन्तु यह विचारने का कष्ट नहीं उठाते कि जीवन मे धर्म का उपक्रम किए बिना तो मनुष्य का जीवन ही सस्कारहीन बन जायगा। किसी मनुष्य से शरीर पर कपास लपेटने के लिए कहा जाय तो वह उसे स्वीकार नहीं करेगा। किन्तु उसी कपास का सस्कार उपक्रम कर दिया जाय–अर्थात् कपास से रुई ओट कर, सूत बनाकर, कपडा बना दिया जाय और उसे सुन्दर रूप मे सिला दिया जाय तो वही कपास शरीर पर धारण किया जा सकता है। इसी प्रकार बालक का जन्म होने पर सस्कार उपक्रम न किया जाय तो उसका जीवन कच्चे कपास की तरह असस्कारी ही बना रहेगा। ज्ञानीजन कहते हैं कि राग के समान कोई जुल्मी नहीं है। कितनेक लोग, माता–पिता कहलाकर फूले नहीं समाते, किन्तु राग के वश होकर अपने बालको को ऐसे सस्कारहीन कर देते हैं कि आगे चलकर वे ही बालक भारस्वरूप जान पडने लगते हैं। कच्चे कपास की तो थोडी-बहुत कीमत उपजती हे किन्तु सस्कारहीन को तो ससार मे कोई टके सेर भी नहीं

पूछता। इस प्रकार धर्म का उपक्रम किए बिना जीवन का सुधार नहीं हो सकता। धर्म मानव–जीवन का सार है।

धर्मम् चर

कुछ लोग सोचते हैं कि हमने पुण्य किया है। उसका फल भोग रहे हैं। अब उद्योग करने की आवश्यकता ही क्या है ? उनके कथन का आशय यह है कि जो परिश्रम न करे वह धर्मात्मा है और जो परिश्रम करके खाता है वह पापी है। *यह समझ की बडी भूल है। अब समय पलट रहा है। समय की* प्रगति देखो और अपने धर्म का भी विचार करो। आपको सही रास्ता मिल जायगा।

धर्म का सस्कार धर्मस्थान से ऐसा ग्रहण करो कि वह जीवन व्यवहार मे काम आवे। कदाचित् आप सोचते हो कि व्यवहार मे धर्म का अनुसरण करने से काम नहीं चलेगा, व्यवहार चौपट हो जायगा तो आप अपने हृदय से यह भ्रम दूर कर दीजिये। धर्म का व्यावहारिक अनुसरण करने वाले कभी भूखो नहीं मरते।

बहुत लोग धर्म के सम्बन्ध मे एक भ्रम मे पडे हैं। उनका यह अभिप्राय है कि धर्म व्यवहार की वस्तु नहीं है। अगर धर्म व्यवहार मे लाने की वस्तु न होती तो उसका इतना माहात्म्य ही न होता। प्राचीनकाल के अनेक चरित हमारे सामने हैं, जिनसे भलीभाति समझा जा सकता है कि लोक–व्यवहार मे धर्म का आचरण करने वालो का व्यवहार कभी नहीं रुका है। धर्म न दिखावे की वस्तु है और न कीर्ति–उपार्जन का साधन है। यह बात दूसरी है कि धर्मात्मा की कीर्ति स्वत ससार मे फैल जाती है, पर धर्म का उद्देश्य कीर्ति उपार्जन करना नहीं है। धर्म तो आचरण की वस्तु है। धर्मस्थान का जीवन और दुकान का जीवन अलग–अलग नहीं है। वह एक है, अविभक्त है। अतएव धर्मस्थान और दुकान के जीवन–व्यवहार म भी एकरूपता होनी चाहिये।

धर्म का आदर्श है....

तमाम धर्म मानवधर्म सीखने के साधन हैं। जो धर्म मानव के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करता है, मनुष्य को मनुष्य से जुदा करना सिखलाता है, मानव को तुच्छ समझना सिखलाता है वह धर्म नही है। धर्म मे ऐसी बातो का स्थान नहीं है।

मनुष्य धर्म का पालन करता है सो इसलिए नहीं कि वह अपने–आपको ऊचा ठहराने की कोशिश करे, बल्कि इसलिए कि वह वास्तव मे ऊचा बने। धर्म–पालन का उद्देश्य वह उत्कृष्ट मनोदशा प्राप्त करना है, जिसमें विश्व–बन्धुत्व का भाव मुख्य होता है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु वेर मज्झ ण केणई' अर्थात् समस्त प्राणियो के प्रति मेरा मैत्रीभाव–बन्धुभाव हे, किसी के साथ मेरा वैर–विरोध नहीं है। जैसे सच्ची महत्ता सादी होती है उसी प्रकार यह महान् मानव धर्म भी सरल और सादा है। इसे एक ही वाक्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मे प्रकट किया जा सकता है।

तुम्हारे लिए जो अनिष्ट है वह दूसरे के लिए भी अनिष्ट है। अगर तुम सडा पानी नहीं पी सकते तो दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं पी सकता। अगर तुम अपनी बीमारी में दूसरो की सहायता चाहते हो तो दूसरा भी यही चाहता है।

अगर मनुष्य इतना सीधा–सादा मानवधर्म समझले और अपने समस्त साधन इस धर्म का विकास करने के लिए मान ले तो फिर धर्म सम्बन्धी अधिक ज्ञान इसी में से उसे मिल जायगा। धर्म सम्बन्धी विधि–विधान खोजने के लिए उसे इधर–उधर नहीं भटकना पड़ेगा। मानवधर्म इतना सादा है कि उसे घडी-भर मे सब सीख सकते हैं, फिर भी मानवधर्म मे रहने वाली गहनता इतनी उदार और भव्य है कि वह जीवन-भर की शुद्धि की माग करती है। जीवन–धर्म का आदर्श विकारो को जीतना ओर विश्वबधुता सीखना है।

धर्मश्रद्धा की वास्तविकता कहाँ है ?

आज धर्म के विपय मे यही समझा जाता है कि जिससे अष्टसिद्धि ओर नवनिधि प्राप्त हो, वही धर्म हे। अष्टसिद्धि और नवनिधि का मिलना ही धर्म का फल हे। किन्तु शास्त्रकार जो बात बतलाते हे, वह इससे विपरीत है।

अब आपको यह सोचना है कि आपको किस भावना से धर्म पर श्रद्धा रखना है ? अगर आपको अपना ही सुख– सासारिक सुख चाहिये तो यह तो दुनिया मे चला ही आ रहा है, मगर इस चाह मे धर्मश्रद्धा नहीं हे। अगर आप धर्मश्रद्धा उत्पन्न करना चाहते हैं और धर्म का वासतविक स्वरूप जानना चाहते हैं तो आपको सदेव यह उच्च भावना रखनी होगी कि मैं दूसरो को सुख देने मे ही प्रयत्नशील रहू।

आज वहुत-से लोग धर्म के फल के सम्बन्ध मे गडबड मे पडे हुए हैं। सब लोगो ने समझ रखा हे कि धर्म का फल इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति अर्थात् सासारिक ऋद्धि–सिद्धि आदि मिलना है। पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति हो, निर्धन को धन प्राप्त हो, इसी प्रकार जिसे जिस वस्तु की अभिलाषा है उसे वह प्राप्त हो जाय तो समझना चाहिये कि धर्म का फल मिल गया। ऐसा होने पर ही धर्मश्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। जैसे भोजन करने से तत्काल भूख मिट जाती हे, पानी पीने से प्यास बुझ जाती है, उसी प्रकार धर्म से भी आवश्यकताओ की पूर्ति हो तभी धर्म पर श्रद्धा जाग सकती है।

लेकिन धर्मश्रद्धा का वास्तविक फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने बतलाया है कि 'धर्मश्रद्धा का फल ससार के पदार्थों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है।' धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने पर सासारिक पदार्थों के प्रति रही हुई रुचि हट जाती है– अरुचि उत्पन्न हो जाती हैं इस स्थिति मे ससार के भोग-विलास एव भोग-विलास के साधन सुखप्रद प्रतीत नहीं होते। लोग धर्मश्रद्धा के फलस्वरूप मोह या विकार की आशा रखते हें, परन्तु शास्त्र कहता है कि धर्मश्रद्धा का फल सासारिक पदार्थो के प्रति अरुचि जगाना है। कहा तो सासारिक पदार्थो के प्रति निर्ममत्व और कहा सासारिक पदार्थो की चाह ! धर्म से इस प्रकार विपरीत फल की आशा रखना कहा तक उचित हैं ?

आजकल धर्म की जो अवहेलना हो रही हे, उसका एक कारण धर्म के स्वरूप को न समझना हे। लोगो को यह भी पता नहीं कि धर्म किस कार्य

का कारण है ? ॥र्म सम्बन्धी इस अज्ञान के कारण ही धर्म से विपरीत फल की आशा की जाती है। जब विपरीत फल मिलता नहीं तो धर्म के प्रति अरुचि पैदा होती है।

हमारे अन्त करण मे धर्मश्रद्धा है या नहीं, इस बात की परीक्षा करने का 'थर्मामीटर' सातावेदनीय के सुखो के पति अरुचि उत्पन्न होना है। आप इस 'थर्मामीटर' द्वारा अपनी जाच कीजिए कि वास्तव मे आप मे धर्मश्रद्धा है या नहीं ? अगर आप म धर्मश्रद्धा होगी तो सातावेदनीयजन्य सुखो के प्रति आपको अरुचि अवश्य होगी।

धर्म की अवहेलना नहीं हो सकती

ससार मे धर्म न होता, दुनिया मे कितना भयकर हत्याकाड मच रहा होता, यह कल्पना भी दु खदायक प्रतीत होती है। मानव–सस्कृति क होन वाले इस विनाश को केवल धर्म ही रोक सकता है। धर्म के अमोघ अस्त्र अहिंसा द्वारा ही यह हिंसाकाण्ड अटकाया जा सकता है। धर्म के अतिरिक्त एक भी ऐसा साधन दिखाई नहीं देता जो मानव–सस्कृति का सत्यानाश करने के लिए पूरे जोश के साथ बढे चले आने वाले विष के वेग को रोक सकता हो। जो धर्म आज दु खरूप और जीवन के लिए अनावश्यक माना जाता है, वही धर्म वास्तव मे सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक है। साथ ही जो विज्ञान आज सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है वही विज्ञान वास्तव मे दु खरूप ओर जीवन के लिए अनावश्यक है। यह सत्य आज नहीं तो निकट भविष्य में सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। आज समझाने से भले ही समझ मे न आवे, मगर समय आप ही समझा देगा।

आज जिन पाश्चात्य या पौर्वात्य देशो मे विज्ञान का अधिक प्रचार हे, वे देश क्या युद्ध के चक्कर मे नहीं फसे हें ? इस कुत्सित लिप्सा के कारण ही मानव–सृष्टि के शीघ्र सहार की शोध आज विज्ञान कर रहा हें। इस प्रकार विज्ञान ही मानव–समाज की सस्कृति का विनाश करने के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी है।

धर्म-साधना निष्फल नहीं

मित्रो ! आप लोग धर्म का परित्याग कर अन्यत्र न जावे। यदि किन्हीं कार्यो मे रुकावट होती है तो होने दीजिए। वह रुकावट आपके पुण्य की न्यूनता से होगी, धर्म की आराधना से नहीं। अगर कोई बालक अपनी माता से अच्छा भक्ष्य पदार्थ समझ कर विष मागता हे ओर माता उसे नहीं देती तो उसके न देने मे ही बालक का हित निहित है। ऐसी अवस्था मे अगर वह बालक अपनी माता को त्याग देता है या उस पर अश्रद्धा करता है या उसे निर्दय कहता है तो वह भूल करता है। माता अश्रद्धा का भाव सहन कर लेगी, निर्दयता का लाछन स्वीकार कर लेगी, पर फिर भी बालक को विष खाने को नहीं देगी। इसी प्रकार सभव है कि जिस कार्य मे तुम सफलता चाहते हो, उस कार्य की सफलता से तुम्हारा अहित होता हो और असफलता मे ही तुम्हारा हित समाया हो। ऐसे कार्यो मे रुकावट पड जाने में ही कल्याण हे। ऐसी अवस्था में धर्म पर अश्रद्धा न करो। धर्म की इष्टप्रदता मे सन्देह न करो। भरोसा रखो, तुम्हारी समस्त आशाए धर्म से ही पूरी होगी और जो आशाए धर्म से पूरी न होगी, वे किसी और से भी पूरी न हो सकेगी।

धर्म अमोघ है। धर्म का फल कब और किस रूप में प्राप्त होता है, यह बात छद्मस्थ भले ही न जान पावें, फिर भी सर्वज्ञ की वाणी सत्य है। धर्म निष्फल नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा रखते हुए धर्म की सेवा करोगे तो कल्याण होगा।

धर्म और धर्मभ्रम

अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म सदा मगलमय है– कल्याणकारी है। जो लोग जीवन में धर्म की अनावश्यकता महसूस करते हैं, उन्हाने या तो धर्म का स्वरूप नहीं समझा है या धर्मभ्रम को ही धर्म सनझ लिया है।

धर्म और धर्मभ्रम मे आकाश—पाताल जितना अन्तर है। गधे को, सिह की चमडी पहना दी जाय तो गधा कोई सिह नहीं बन जाएगा। भले ही सिह—वेशधारी गधा थोडे समय के लिए अपने-आपको सिह के रूप मे प्रकट करके खुश हो ले पर अन्त मे तो गधा, गधा सिद्ध हुए बिना रहने का नहीं। इसी प्रकार धर्मभ्रम और धर्मान्धता को भले ही धर्म का चोगा पहना दिया जाय, लेकिन अन्त मे धर्मभ्रम का क्षय और धर्म की जय हुए बिना नहीं रह सकती।

धर्म को धर्मभ्रम और धर्मभ्रम को धर्म मान लेने के कारण बडी गडबडी मची है। स्वर्णकार मिट्टी मे मिले स्वर्ण को ताप, कष और छेद के द्वारा मिट्टी से अलग निकालता है, इसी प्रकार विवेकीजनो को चाहिए कि वे धर्मभ्रम की मिट्टी में मिले हुए धर्म—स्वर्ण को ताप, कष और छेद के द्वारा अलग कर डाले। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि मिट्टी, मिट्टी है और सोना, सोना है। लेकिन मिट्टी मे मिले सोने को सच्चा स्वर्णकार ही अलग कर सकता है। इसी प्रकार धर्म, धर्म है और धर्मभ्रम, धर्मभ्रम है। मगर धर्मभ्रम मे मिले धर्म को शोधने का कार्य सच्चे धर्मसशोधक का है। धर्म जब धर्मभ्रम से पृथक् कर दिया जायेगा तभी वह अपने उज्ज्वल रूप मे दिखलाई देगा और तभी उसकी सच्ची कीमत आकी जा सकेगी।

जीवन में धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, यहा तक कि धर्म के बिना जीवन—व्यवहार भी नहीं चल सकता। जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते, उन्हे भी जीवन मे धर्म का आश्रय लेना ही पड़ता है, क्योकि धर्म का आश्रय लिये बिना जीवन—व्यवहार निभ ही नहीं सकता है उदाहरणार्थ— पाच और पाच दस होते हैं, यह सत्य है और सत्य धर्म है। जिन्हें धर्म आवश्यक नहीं मालूम होता उन्हे यह सत्य भी अस्वीकार करना होगा।

अहिंसा कायरों का धर्म नहीं

अत्याचार करना जैसे मानसिक दोर्बल्य है, वैसे ही कायरता धारण करके हृदय मे जलते हुए, ऊपर से अत्याचार सहन कर लेना भी मानसिक दौर्बल्य हे। परन्तु वास्तविक शाति धारण कर लेना मानसिक उच्चता और

उन्नत धर्म है। जैसे, कोई दुराचारी मनुष्य, किसी धर्मशील स्त्री का शील हरण करता है और दूसरा उस शरण आई हुई बहिन को, कायर बन कर शरण नहीं देता और भागता है, तो ये दोनो मानसिक दौर्बल्य के धारण करने वाले हैं। एक क्रूरता से और दूसरा कायरता से। आज यह बात दिखाई पडती है कि बहुत-से भाई कायरता को ही अहिंसा मान बैठे हैं। इसकी वजह से, कर्तव्य से पराङ्मुख होकर अन्य समाज के सामने डरपोक-से दिखाई देते हैं। यह उनके मानसिक दौर्बल्य का कारण है। वास्तविक अहिंसा कायरों का धर्म नहीं, किन्तु सच्चे वीरो का है।

एक शक्ति अपनी विरोधी शक्ति का सहार किया करती है। लोग यह समझ बैठते हैं कि विरोधी शक्ति का नाश करना भी हिंसा है। वास्तव मे आत्मा की आत्मिक शक्तियों के विरोधी का नाश करना हिंसा नहीं है। अगर ऐसा होता तो अरिहत अर्थात् आत्मिक शत्रुओ को नाश करने वाले महापुरुष एव भगवान् क्यो कहलाते ?

धर्म की निन्दा कराने वाले कौन ?

❖ ❖ ❖

अहिंसा, सयम और तपरूप धर्म सदा मगलमय है– कल्याणकारी है। जो लोग जीवन मे धर्म की आवश्यकता महसूस करते हैं, उन्होने या तो धर्म का स्वरूप नहीं समझा है या धर्मभ्रम को ही धर्म समझ लिया है।

धर्म और धर्मभ्रम मे आकाश–पाताल जितना अन्तर है। गधे को सिह की चमडी पहना दी जाय तो गधा सिह नहीं बन जायगा। भले ही सिह–वेषधारी गधा थोडे समय के लिये अपने-आपको सिह के रूप मे प्रकट करके खुश हो ले पर अन्त मे तो गधा, गधा सिद्ध हुए बिना रहने का नहीं। इसी प्रकार धर्मभ्रम और धर्मान्धता को भले ही धर्म का चोगा पहना दिया जाय, लेकिन अन्त मे धर्मभ्रम का क्षय और धर्म की जय हुए बिना नहीं रह सकती।

जीवन में धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, यहा तक कि धर्म के बिना जीवन-व्यवहार ही नहीं चल सकता। जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते, उन्हे भी जीवन मे धर्म का आश्रय लेना ही पडता है, क्योकि धर्म का आश्रय लिये बिना जीवन–व्यवहार निभ ही नहीं सकता है।

धर्म का सम्बन्ध सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र के साथ है। जहा इनमे से एक भी नहीं है, वहॉ धर्मतत्त्व भी नहीं है। जहॉ यह रत्नत्रय है वहीं सच्चा धर्म है। धर्मभ्रम या धर्मान्धता तो स्पष्टत धर्माभास है– अधर्म है। प्रजा को हैरान करना, परधन और परस्त्री का अपहरण करना तो साफ अधर्म है, फिर भले ही वह धर्म के नाम पर ही क्यो न प्रसिद्ध किया जाय।

धर्म तो इस विचार मे है कि– मैं स्वय तो असत्य बोलूगा ही नहीं, अगर कोई दूसरा मुझसे असत्य बोलेगा तो भी मैं असत्य नहीं बोलूगा। मैं स्वय तो किसी चीज का अपहरण करूगा ही नहीं, अगर मेरी वस्तु का कोई अपहरण करेगा तो भी मैं यह विचार तक नहीं करूगा कि मैं उसकी किसी वस्तु का अपहरण करू, उसका कुछ बिगाड करू। मैं किसी पर क्रोध भी नहीं करूंगा। मैं थप्पड का बदला थप्पड से नहीं, प्रेम से दूगा। जिसके अन्त करण मे धर्म का वास होगा, वह इस प्रकार का विचार करेगा। जो लोग धर्म के नाम पर थप्पड़ का बदला थप्पड से देते हैं अथवा परधन और परस्त्री के अपहरण की चिन्ता मे दिन-रात डूबे रहते हैं वही लोग धर्म की निन्दा कराते हैं।

धर्म वीरता से निभता है

❖ ❖ ❖

भाइयो । धर्म वीरता से निभता है। हमारे पूर्वज इस धर्म को मानते आये हैं या वश–परम्परा से वन्दना-नमस्कार करते आये हैं, इसलिये हमे भी यह धर्म मानना पडेगा और वन्दना-नमस्कार करना पडेगा, इस प्रकार की लाचारी से अगर आप धर्म को मानते हैं तो इस भावना को मैं निर्बल भावना कहूगा। निर्बल भावना एक प्रकार की दीनता है, लाचारी है और अशक्ति का चिह्न है। निर्बल भावना वाला पुरुष धर्म का पालन नहीं कर सकता। धर्म हृदय के प्रेम से पाला जाता है। सच्चा धर्म वही है जो अन्तर से उद्भूत होता है। जिस बाह्य क्रिया के साथ मन का मेल नहीं है, जो सिर्फ परम्परा का पालन करने के लिए की जाती है या प्रतिष्ठा के मोह से की जाती है वह ठीक फल नहीं दे सकती। अतएव धर्म की आराधना अन्त करण से होनी चाहिए।

युगधर्म ही सब-कुछ नहीं

साधारण जनता प्रवृत्ति के बहाव मे बहती है। जिस समय, जिस चीज की विशेष आवश्यकता होती हे, उस समय समाज के मुखिया उस चीज को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसा करना ही पडता है। पर यह भूल न जाना चाहिए कि समाज की आवश्यकताएँ किसी खास समय तक ही परिमित नहीं हैं। मानव–जीवन पानी का बुलबुला नहीं है कि उसका कुछ ही समय मे अन्त आ जाय। मानव–जीवन सत्य है, इसलिए सनातन है। अमुक युग की अमुक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पन्न की गई भावना मे ही जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता नहीं है। उसके अतिरिक्त बहुत-कुछ शाश्वत तत्त्व है, जिसकी सिद्धि मे जीवन की सर्वांगीण सफलता निहित है। अतएव ऐसे सर्वकालीन तत्त्वों का सरक्षण करना, उनकी व्याख्या करना भी आवश्यक है। उस ओर से सर्वथा उदासीन होकर कोई भी समाज पूर्ण सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि युगधर्म ही सब-कुछ नहीं है, वरन् शाश्वत धर्म भी है, जो जीवन को भूत और भविष्य के साथ सकलित करता है। युगधर्म का महत्त्व काल की मर्यादा मे बधा हुआ है पर शाश्वत धर्म सभी प्रकार की सामयिक सीमाओ से मुक्त है। मुनिजन अगर युगधर्म को गौण करके शाश्वत धर्म का मुख्य रूप से प्रचार करते हैं तो क्या इसी से उन्हे उपेक्षा का पात्र समझना चाहिये ? कदापि नहीं, क्योकि वे जीवन के महत्तम आदर्श के सन्देशवाहक हैं और उस सन्देश को अपने जीवन मे उतार कर उसे मूर्तिमान रूप प्रदान करते हैं।

श्रमण धर्म के लिये भाररूप

❖ ❖ ❖

निर्ग्रन्थ धर्म शूरो द्वारा पाला जा सकता है। इसे कायर लोग नहीं पाल सकते लेकिन बहुत–से कायर लोग निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार करके, घर–बार,

कुटुम्ब, ससार आदि छोड भी देते हैं, सयति का वेश भी पहन लेते हैं, रजोहरण एव मुख–वस्त्रिका आदि भी धारण कर लेते हैं और फिर कामना पूर्ण न होने पर साधुपने मे दु ख पाते हैं।

कई लोग क्षणिक आवेश मे सनाथ बनने की क्षणिक भावना से प्रेरित होकर सयम ले लेते हैं। कई, ससार–व्यवहार का भार सहन न कर सकने के कारण, कमा कर खाने की अशक्तता के कारण सयम ले लेते हैं।

कई, साधुओ की प्रतिष्ठा देखकर वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए साधु–वेश पहन लेते हैं। इस प्रकार बहुत-से कायर लोग भिन्न–भिन्न कारणो के सयम स्वीकार तो कर लेते हैं, लेकिन वास्तव मे उन्हें सच्चा वैराग्य नहीं होता, आकाक्षा–रहित सयम लेने की भावना नहीं होती, सनाथ बनने के परिपक्व विचार नहीं होते, इसलिए सयम मे दीक्षित होने के पश्चात् वे पश्चात्ताप करते हैं, सयम मे कष्ट अनुभव करते हैं ओर कीचड मे फसे हुए हाथी के समान दु खी रहते हैं। ऐसे लोग वीर नहीं, किन्तु कायर हैं।

एक बार ही निहार लो

साधना तुम्हे कठिन और दु साध्य प्रतीत होगी। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि पहले–पहल जो कार्य दु साध्य प्रतीत होता है, वही कार्य सुदृढ मनोबल से सुसाध्य बन जाता है। दृढ मनोभावना के साथ जुट जाने पर कठिनाइयॉ अपने-आप हल होती जाती हैं और आत्मा के बढते हुए बल के सामने उन्हे परास्त होना पडता है। अतएव अपना ही कच्चा मत करो। कठिनाइयो के आने से पहले ही, उनकी कल्पना मात्र से भयभीत मत बनो। तुम्हारे भीतर जो शक्ति विद्यमान है वह साधारण नहीं है। उस शक्ति के सामने विश्व की शक्ति टिक नहीं सकती। मगर उसका उपयोग करोगे तभी उससे लाभ उठा सकोगे। इस समय अत्यन्त अनुकूल अवसर मिला हे। इसे खोओ मत। इसका अधिक–से–अधिक सदुपयोग करके सदा के लिये सुखी बन लो। अपनी दृष्टि को वाहर की ओर से भीतर की ओर करो। अगर अन्तरात्मा की ओर एक दृष्टि से एक वार भी निहार लोगे तो अपने को

कृतकृत्य मानने लगोगे। ससार नीरस दिखाई देगा और तब तुम्हारे अनन्त कल्याण का मार्ग तुम्हे स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगेगा।

लक्ष्यभ्रष्ट न होओ

जो साधु के आचार–विचार से विरुद्ध चलता है फिर भी साधु का वेष धारण किये रहता है, वह प्राणी पामर है। ऐसा मनुष्य इस लोक के सुखो से भी वचित रहता हे और परलोक के सुखो से भी कोरा रह जाता है।

वह इस लोक के सुखो से वचित यो रह जाता है कि लोक- लज्जा के मारे उसे केशलोच करना पडता हे, नगे पैर पैदल चलना पडता हे ओर भिक्षाटन आदि बाह्य क्रियाए साधुओ की ही तरह करनी पडती हैं। मतलब यह है कि साधु जिन कष्टो को सहन करते हैं, उन्हे उसे भी सहन करना पडता है। फिर भी उसका कष्ट सहना उत्तम अर्थ मे नहीं लगता। वह जो-कुछ-करता है, जो कष्ट सहता है सो सिर्फ इसलिए कि लोग उसे साधु समझे। वह आडबर करता है और असलियत की उपेक्षा करता है। इस प्रकार वह इहलौकिक सुखो से भी वचित रहता है और पारलोकिक सुखो से तो वचित है ही। वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है। 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' की कहावत उस पर पूरी तरह घटती हे। ऐसे व्यक्ति का इस लोक मे भी कोई आदर नहीं करता और परलोक मे तो उसे पूछेगा ही कौन ? वह जो कष्ट सहन करता है सो समभाव से नहीं करता। ऐसा मनुष्य अनाथ का अनाथ ही बना रह जाता है।

कायर संयम में भी सुख चाहते हैं

❖ ❖ ❖

कायर लोग, सयम लेकर उसमे सासारिक सुखो की इच्छा करते हैं। वे अच्छा भोजन, मान–प्रतिष्ठा, अच्छे–अच्छे वस्त्र आदि चाहते हैं और जब

इनकी प्राप्ति नहीं होती, तब वे सयम मे दुःख मानते हैं। यद्यपि सयम लेने के समय सासारिक सुखो को त्याग चुके हैं, लेकिन कायर लोग, सयम मे सासारिक सुख चाहते हैं, और उसे प्राप्त करने के लिए वे अपने सयम के ध्येय को भुला देते हैं। उन्हे यह ध्यान नहीं रहता कि हमारा ध्येय क्या है, हम किस भावना को लेकर उठे हैं और सयम लेने के समय हमारा उद्देश्य क्या था ? वे लोग, एक ओर तो सासारिक सुख भी भोगना चाहते हैं, और दूसरी ओर साधुपने की मान–प्रतिष्ठा भी। यानी यह भी चाहते हैं, कि हमे कोई असयमी भी न कहे, किन्तु सयमी मानकर हमारी पूजा–प्रतिष्ठा करे और यह भी चाहते हैं, कि हमे ससार के समस्त सुख भी प्राप्त हो। इसके लिये वे प्रकट मे तो साधु का वेश रखते हैं और परोक्ष में सासारिक सुख प्राप्त भी कर लेते हैं, तब भी उन्हे दुःख घेरे ही रहता है। उन्हे सदा यह भय बना रहता है कि हमारे इस असयमपूर्ण कुकृत्य का कहीं भाडा न फूट जाये। भाडा फूट जाने पर हम अपमानित हो जावेगे, इस आशका से वे यह सोचते रहते हैं कि हमने सयम क्यों ले लिया ? उनसे सयम का वेश भी त्यागते नहीं बनता। ऐसा करने मे अपमान एव निन्दा का भय है। इस प्रकार के कायर लोग सयम को दुःख मानते हैं और सयम से पतित भी हो जाते हैं।

……पालन में प्रमाद मत करो !

यद्यपि कायर लोग, समितिया न पालने मे पचमहाव्रतो का भग नहीं समझते, लेकिन वास्तव मे, पचमहाव्रत भग हो जाते हैं, क्योंकि पचमहाव्रत का सूक्ष्म रूप से पालन तभी सम्भव है जब पाचों समितियों का भली प्रकार पालन किया जावे। इस ओर गति करना, प्रमाद न करना प्रत्येक साधु का कर्तव्य है। अपने इस कर्तव्य को समझ कर, जो साधु सावधानी रखता है, उससे यदि कभी गलती हो भी जावे, तो वह पतित नहीं कहलाता। पतित तो तभी कहलाता है, जव जान–बूझ कर उपेक्षा की जावे ओर जो गलती हुई है, उसे सुधारने की चेष्टा करने के बदले ओर बढने दे।

हे मुनियो ! तुम्हारा पद, चक्रवर्ती राजाओ एव देवताओ से भी बडा है। देवता लोग, चक्रवर्ती के सामने अपना मस्तक नहीं झुकाते, लेकिन तुम्हारे आगे

कृतकृत्य मानने लगोगे। ससार नीरस दिखाई देगा और तब तुम्हारे अनन्त कल्याण का मार्ग तुम्हे स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगेगा।

लक्ष्यभ्रष्ट न होओ

जो साधु के आचार–विचार से विरुद्ध चलता है फिर भी साधु का वेष धारण किये रहता है, वह प्राणी पामर है। ऐसा मनुष्य इस लोक के सुखो से भी वचित रहता हे और परलोक के सुखो से भी कोरा रह जाता है।

वह इस लोक के सुखो से वचित यो रह जाता है कि लोक- लज्जा के मारे उसे केशलोच करना पडता है, नगे पैर पैदल चलना पडता है और भिक्षाटन आदि बाह्य क्रियाए साधुओ की ही तरह करनी पडती हैं। मतलब यह है कि साधु जिन कष्टो को सहन करते हैं, उन्हे उसे भी सहन करना पडता है। फिर भी उसका कष्ट सहना उत्तम अर्थ मे नहीं लगता। वह जो-कुछ करता है, जो कष्ट सहता है सो सिर्फ इसलिए कि लोग उसे साधु समझे। वह आडबर करता है और असलियत की उपेक्षा करता है। इस प्रकार वह इहलौकिक सुखो से भी वचित रहता है और पारलोकिक सुखो से तो वचित है ही। वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है। 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' की कहावत उस पर पूरी तरह घटती हे। ऐसे व्यक्ति का इस लोक मे भी कोई आदर नहीं करता और परलोक मे तो उसे पूछेगा ही कौन ? वह जो कष्ट सहन करता है सो समभाव से नहीं करता। ऐसा मनुष्य अनाथ का अनाथ ही बना रह जाता है।

कायर संयम में भी सुख चाहते हैं

❖ ❖ ❖

कायर लोग, सयन लेकर उसमे सासारिक सुखो की इच्छा करते हैं। वे अच्छा भोजन, मान–प्रतिष्ठा, अच्छे–अच्छे वस्त्र आदि चाहते हैं और जब

विधान तो ऐसा हे, परन्तु मैं अपनी अपूर्णता के कारण उसका पालन करने मे असमर्थ हू। जो साधु इस प्रकार अपनी अपूर्णता को स्पष्ट स्वीकार कर लेता है और शास्त्र की अपूर्णता नहीं बतलाता, शास्त्र उसकी उतनी निन्दा नहीं करता जितनी शास्त्रविरुद्ध प्रतिपादन करने वाले की निन्दा करता है। जो लोग सयम का शास्त्रोक्त रीति से पालन नहीं करते और अपनी अपूर्णता स्वीकार करते हैं, वे किसी-न-किसी दिन तो सयम का पालन कर सकेगे और अपनी अपूर्णता दूर कर सकेगे, किन्तु जो अपनी अपूर्णता ही नहीं मानता उसका सुधार होना कठिन है।

कई लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का बहाना करके समिति की उपेक्षा करते हैं, उनके अनुसार महाव्रतो का पालन भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख–देखकर करना चाहिए। परन्तु जो लोग इस प्रकार बच निकलने का रास्ता खोजते हैं, वे शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं। जो शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं, वे धीर-वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाले भी नहीं हैं। वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाला शास्त्र के मार्ग पर चलता है।

कोई कह सकता है– शास्त्रो की रचना हजारो वर्ष पहले हुई है, आज बदली हुई परिस्थितियो मे उनके अनुसार किस प्रकार चला जा सकता है ? और ऐसा कहकर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर शास्त्रविरुद्ध व्यवहार करता है वह 'इतोभ्रष्टस्ततोभ्रष्ट' की कहावत के अनुसार प्रतीत हो जाता है।

यह धारणा बदल लो

कुछ लोगो का खयाल है कि गृहस्थो के सामने साधु–आचार सम्बन्धी बाते कहना अनावश्यक हैं। साधु–आचार का विचार तो एक जगह बैठकर साधुओ को ही कर लेना चाहिये। गृहस्थो के सामने उन बातो को रखने से कोई लाभ नहीं हे।

कहा जा सकता है कि साधु–जीवन की शिक्षा की आवश्यकता साधुओ को हे। हम गृहस्थो को इस शिक्षा की क्या आवश्यकता हे ? तुम गृहस्थाश्रम

अपना मस्तक झुकाते हैं। चक्रवर्ती राजा भी, तुम्हारे दर्शन को लालायित रहता है। ऐसे प्रतिष्ठित पद को पाकर भी, पाच समिति के पालन मे सावधानी न रखने पर, तुम्हारी गणना, कायरो एव पतितो मे होगी। इसके साथ ही, जिस उद्देश्य से तुमने घर–बार छोडा है, जिस ध्येय को लेकर सासारिक सुख त्याग, सयम मे प्रव्रजित हुए हो, समिति–पालन मे असावधानी रखने पर, उसकी भी पूर्ति नहीं होगी। तुम्हारे पद की प्रतिष्ठा, तुम्हारे ध्येय की पूर्ति एव गृह–ससार छोडने से लाभ तभी है, जब तुम पचमहाव्रत के साथ ही पचसमिति के पालन में भी सावधानी रखो। यदि तुम से कोई गलती भी हो जावे, तो उसका प्रतिशोधन करो, लेकिन उसे बढने मत दो। पहाड पर से एक पाव फिसला और दूसरे पाव से उसी समय सम्हल गया, तब तो गिरने से रुक जाता है और यदि दूसरे पाव को भी ढील दे दी, तो लुढकता हुआ नीचे ही चला जाता है। इसी प्रकार, पाच समिति के पालन मे कोई गलती हो जावे और उसी समय अपनी गलती को मान कर, भविष्य के लिए सम्हल जाओगे, तब तो तुम्हारी गणना कायरो मे न होगी। तुम दूसरी अनाथता मे न पडोगे, अन्यथा सनाथी मुनि के कथनानुसार तुम कायर एव अनाथ के अनाथ ही माने जाओगे

काल वृथा मत खोओ !

❖ ❖ ❖

आजकल प्राय देखा जाता है कि कोई साधुओ से कुछ कहता है तो वे उलटे दबाने लगते हैं। साधु की भूल बताने पर साधु उसे स्वीकार करके प्रतिक्रमण कर ले और शुद्ध हो जाय ओर साथ ही भविष्य मे ऐसी भूल न करने का ध्यान रक्खे तो ठीक, किन्तु अगर कोई साधु कहे– 'हम साधुओ से कहने वाले तुम कौन होते हो ?' और यह कर नाराज हो जाय तो समझना चाहिए कि वह साधु सुधर नहीं सकता।

सुखशील बनकर मौज करना ओर मौज करने के कार्य को भी उज्ज्वल नाम देना ओर भावुक भक्तो की श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाना साधुओ का धर्म नहीं है। साधु का धर्म तो यह है कि वह स्पष्ट कह दे कि शास्त्र का

विधान तो ऐसा है, परन्तु मैं अपनी अपूर्णता के कारण उसका पालन करने मे असमर्थ हू। जो साधु इस प्रकार अपनी अपूर्णता को स्पष्ट स्वीकार कर लेता है और शास्त्र की अपूर्णता नहीं बतलाता, शास्त्र उसकी उतनी निन्दा नहीं करता जितनी शास्त्रविरुद्ध प्रतिपादन करने वाले की निन्दा करता है। जो लोग सयम का शास्त्रोक्त रीति से पालन नहीं करते और अपनी अपूर्णता स्वीकार करते हैं, वे किसी-न-किसी दिन तो सयम का पालन कर सकेंगे और अपनी अपूर्णता दूर कर सकेगे, किन्तु जो अपनी अपूर्णता ही नहीं मानता उसका सुधार होना कठिन है।

कई लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का बहाना करके समिति की उपेक्षा करते हैं, उनके अनुसार महाव्रतो का पालन भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख-देखकर करना चाहिए। परन्तु जो लोग इस प्रकार बच निकलने का रास्ता खोजते हैं, वे शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं। जो शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं, वे धीर-वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाले भी नहीं हैं। वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाला शास्त्र के मार्ग पर चलता है।

कोई कह सकता है– शास्त्रो की रचना हजारो वर्ष पहले हुई है, आज बदली हुई परिस्थितियो में उनके अनुसार किस प्रकार चला जा सकता है ? और ऐसा कहकर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर शास्त्रविरुद्ध व्यवहार करता है वह 'इतोभ्रष्टस्ततोभ्रष्ट' की कहावत के अनुसार प्रतीत हो जाता है।

यह धारणा बदल लो

कुछ लोगो का खयाल है कि गृहस्थो के सामने साधु–आचार सम्बन्धी बाते कहना अनावश्यक हैं। साधु–आचार का विचार तो एक जगह बैठकर साधुओं को ही कर लेना चाहिये। गृहस्थो के सामने उन बातो को रखने से कोई लाभ नहीं है।

कहा जा सकता है कि साधु–जीवन की शिक्षा की आवश्यकता साधुओ को है। हम गृहस्थो को इस शिक्षा की क्या आवश्यकता है ? तुम गृहस्थाश्रम

मे हो और साधु साधु–आश्रम मे है। अपने–अपने आश्रम मे अपने–अपने आश्रम के अनुरूप ही सब क्रियाए की जाती हैं। पर गृहस्थ होने का यह अर्थ नहीं कि वह धर्म का पालन ही नहीं कर सकता। अगर गृहस्थधर्म का पालन न कर सकता होता तो भगवान 'जगद्गुरु' न कहलाते, क्योकि जगत् मे गृहस्थो का भी समावेश होता है। अत गृहस्थ भी धर्म का पालन कर सकते हैं।

आप कहेगे– क्या हमे साधु बनाना है ? परन्तु साधुता क्या बुरी वस्तु है ? अगर बुरी होती तो आप साधु का उपदेश ही क्यो सुनते ? साधुता तो विशिष्ट शक्ति होने पर ही धारण की जा सकती है। परन्तु आपको जो साधन मिले है, उनका सदुपयोग करो और नींद मे मत पडो।

जिसने महत्त्व समझा नहीं

❖ ❖ ❖

प्रत्येक धर्म–सेवक का यह कर्तव्य होता है और उसे यह बात सदा ध्यान मे रखनी चाहिये कि जिस धर्म को उसने अपने गले का हार बनाया है, अपनी आत्मा का आभूषण समझा हे, जिस धर्म से अनन्त सुख और अक्षय शान्ति प्राप्त होने का उसे विश्वास है, उस धर्म के लिए किसी भी प्रिय–से–प्रिय वस्तु को न्योछावर करने से वह पीछे न हटे। जो धर्म को विशेष ओर सर्वाधिक कहता है, मगर धर्म के लिए किसी वस्तु का त्याग करने मे सकोच करता है, समझना चाहिए कि उसने धर्म का महत्त्व नहीं समझा है।

आज निर्ग्रन्थवर्ग की स्थिति कुछ विषम–सी हो रही है। साधु समाज और साध्वी समाज में निरकुशता फैलती जाती है। इसका कारण किस प्रकार के पुरुष और किस प्रकार की महिला को दीक्षा देनी चाहिये, इस बात का पूरी तरह विचार नहीं किया जाना रहा है। दीक्षा सबधी नियमो का पालन बहुत कम हो रहा है।

साधु समाज के निरकुश होने और साधुता के नियमो मे शिथिलता आ जाने के कारणो मे से एक कारण है– साधुओ के हाथ मे समाज–सुधार का काम होना। आज सामाजिक लेख लिखने, वाद–विवाद करने ओर इस

प्रकार समाज–सुधार करने का भार साधुओ पर डाल दिया गया है। समाज–सुधार करने का कार्य दूसरा कोई वर्ग अपने हाथ मे नहीं ले रहा है। अतएव यह काम भी कई–एक साधुओ को अपने हाथ मे लेना पडा है। इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे साधुओ द्वारा ऐसे–ऐसे काम हो जाते है जो साधुता के लिए शेभास्पद नहीं कहे जा सकते।

श्रावक कौन कहलाता है ?

जैन–परम्परा मे श्रावक शब्द बहुत प्रसिद्ध है। उसका प्रयोग आम तौर पर जैन गृहस्थ के लिए किया जाता है। जो व्यक्ति जैन कुल मे उत्पन्न हुआ है, वह श्रावक कहलाता है, ऐसी रूढि–सी हो गई है। मगर श्रावक कहलाने वाले पर कुछ दायित्व हैं, उसके कुछ कर्तव्य भी हैं, इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अतएव यहाँ श्रावक शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसकी व्याख्या कर देना आवश्यक है। कहा है–

श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनम्, दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
क्रन्तत्यपुण्याणि करोति सयमम्, त श्रावक प्राहरमी विचक्षणा ।।

'श्रावक' शब्द में तीन अक्षर हैं और उन तीनों से श्रावक के अलग–अलग कर्तव्यो का बोध होता है। पहले अक्षर 'श्रा' से यह अभिप्राय निकलता है कि श्रावक को जिन-वचन मे दृढ श्रद्धा धारण करनी चाहिए और साधु–समाचारी, श्रावक-समाचारी और तीर्थंकर भगवान की वाणी का श्रवण करना चाहिए।

साधु की समाचारी सुने बिना गुरु का निर्णय नहीं हो सकता और श्रावक की समाचारी सुने बिना अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता। समाचारी का अर्थ है कर्तव्य कार्य। साधु और श्रावक के शास्त्रविहित कर्तव्यो को श्रद्धा के साथ सुनना श्रावक शब्द मे रहे हुए 'श्रा' अक्षर का अर्थ है।

'श्रावक' शब्द मे दूसरा अक्षर 'व' है। इसका अभिप्राय है कि पुण्य–कार्य मे बिना विलम्ब किये दान दे और अपने दर्शन को दिपावे।

आज लोग प्राय अपना बडप्पन दिखलाने के लिए और अपने बाप–दादा की एव अपनी कीर्ति और प्रसिद्धि के लिए तो द्रव्य खर्च कर देते हैं, किन्तु

जब किसी धार्मिक कार्य के लिए द्रव्य का त्याग करने का अवसर आता है तो कहने लगते हें यह मेरे अकेले का काम नहीं है। सब करे तो मैं भी करूँ। मैं अकेला ही क्यो खर्च करूँ ? इस प्रकार कहना और करना श्रावकपन का लक्षण नहीं है। श्रावक को उत्साहपूर्वक जिन-धर्म की महिमा बढानी चाहिए और उसके लिए आवश्यकतानुसार द्रव्य की ममता का भी त्याग करना चाहिए। यही 'व' अक्षर का अर्थ है।

'श्रावक' शब्द मे तीसरा अक्षर 'क' है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रावक पाप को काटे अर्थात् अधर्म मे प्रवृत्ति न करे और ऐसा यत्न करे– जिससे शुभ कार्य हो सके और व्रत तथा सयम निभ सके।

सुख का सच्चा मार्ग

❖ ❖ ❖

सुख का मार्ग निराला है। पर–पदार्थो से ममता का भाव हटा लेने मे, उनमे स्वत्व की बुद्धि न स्थापित करने मे ही सुख का रहस्य है। अगर आप सच्चा सुख प्राप्त करना ही चाहते हैं तो बाह्य पदार्थो पर अवलम्बित रहने वाले सुख को त्याग दे। यह सुख कर्माधीन है, पुद्‌गलाधीन है, अल्पकाल तक ही ठहर सकता है, इसके बीच–बीच मे दु ख आया करते हैं, यह पाप का बीज है और अन्त मे घोर दु ख देकर विदा हो जाता है। सच्चा सुख आत्मनिर्भर होने मे हे। आत्मा जब पर–पदार्थो मे पूर्ण मध्यस्थभाव धारण करती है, किसी भी वस्तु मे राग या द्वेष नहीं करती, तब उसे सच्चा सुख प्राप्त होता है। आत्मा मे अनन्त आनन्द भरा है। आत्मा का स्वरूप ही आनन्द है। मगर अज्ञानी आत्मा अपने अक्षय खजाने से अनभिज्ञ हे। वह पुद्‌गलो से आनन्द की भीख मॉगती हे। इसीलिए वह दुखी है।

सुख के लिए कहीं भी बाहर की तरफ नजर फैलाने की जरूरत नहीं है। अपनी ही ओर देखने से, अपने मे ही लीन होने से सुख की प्राप्ति होगी। बाह्य वस्तुऍ सुख नहीं दे सकतीं। उनसे जो सुख मिलता मालूम होता है, वह सुख नहीं, सुखाभास है। शहद लपेटी हुई तलवार की धार चाटने से क्षणभर सुख–सा प्रतीत होता है, मगर उसका परिणाम कितना दु खप्रद है ? यही बात ससार की समस्त सुख–सामग्री की है।

जहॉ बाह्य पदार्थो का ससर्ग होगा, वहॉ व्याकुलता होना अनिवार्य है और जहॉ व्याकुलता है वहॉ सुख नहीं है। निराकुलता ही सुख है और निराकुलता तभी आती है जब सयोगमात्र का त्याग कर दिया जाता है।

इसी में कल्याण है

सर्वप्रथम यह देखने की आवश्यकता है कि हम किस जगह भूल करते हैं, किस स्थान पर हमारा सच्चा मार्ग हमसे छूट जाता है और हम विपथगामी बनते हैं ? मेरे विचार से सबसे पहली भूल तब होती है जब कोई मनुष्य बुरा काम करता है, लेकिन उसे बुरा न समझकर अच्छा समझता है, फिर भी लोगों की प्रकृति मे ऐसी बुराइया आ घुसी हैं, उनके हृदय सकीर्ण एव शकाशील हो गये हैं। भूल को भूल समझ लेने से वह इतनी भयकर नहीं रहती मगर जब भूल भूल ही नहीं मालूम होती तब भूलो की परम्परा चल पडती है और भूल करने वाला उनका परिमार्जन करने की ओर भी ध्यान नहीं देता। इसी कारण वह ससार–चक्र मे पडकर अपने अन्तर को मलिन बनाये हुये है।

लोग बडप्पन के काम तो करना नहीं चाहते, मगर बडप्पन चाहते हैं। बडप्पन चाहने के लिये जितने प्रयत्न हैं उतने प्रयत्न बडे बनने के लिये नहीं करते। वास्तव मे बडप्पन हो या न हो, मगर दूसरो को हमारा बडप्पन दिखना चाहिये, इस इच्छा से प्रेरित होकर लोग बडप्पन दिखाने के लिये तुच्छता के काम करते हैं। इसी प्रकार की दुर्भावना अपवित्र वस्तुओ की ओर आकर्षित करती है। बडप्पन न होने पर भी बडप्पन दिखाने की कुत्सित चाल ने ससार मे बेहद ढोग फैलाया है।

मित्रो ! जो निगूढतर तत्त्व तुम्हारी बुद्धि से परे है और जिस तक तुम्हारी पहुच नहीं हो पाती, उसे अगर न भी जान सको तब भी इतना तो समझ लो कि जो मलिन दिखाई दे रहा है उसे स्वच्छ कर लेने मे क्या हर्ज है ? ऐसा समझ कर अगर आप अपने अन्त करण को निर्बल बना ले तो आपका अन्त करण एक प्रकार के अद्भुत प्रकाश से दीप्यमान होने लगेगा और तब सत्य का प्रकाश भी प्राप्त हो जायेगा।

परमात्मा का 'मोहनगारो रूप' त्यागियो को नजर आता हे। वह भोगियो

को दिखाई नहीं देता। अतएव त्याग को अपनाओ। मैं यही कहना चाहता हू कि आप जितना शक्य हो, उतना त्याग करो। इस पथ पर चलना प्रारम्भ करो। त्याग के बिना न यह लोक सुधरता है, न परलोक सुधरता हे। सूक्ष्म पापो का त्याग नहीं कर सको तो भी महापाप का तो अवश्य त्याग करो। ऐसा करोगे तो तुम्हारा ही कल्याण होगा।

सत्संकल्प सफलता का सोपान

अगर तुम्हारे सकल्प मे सचाई और दृढता है तो तुम्हे दु ख हो ही नहीं सकता। सुदृढ सत्सकल्प से ही दु खो से छुटकारा पाया जा सकता है। ढीले सकल्प से कुछ बनता नहीं।

आज के लोगो को सकल्प की शक्ति के विषय मे सन्देह रहता है, परन्तु सकल्प मे अनन्त बल सन्निहित है।

सकल्प सत्सकल्प हो तो उसके द्वारा ध्रुवत्व अर्थात् मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। सत्सकल्प ही ईश्वर है, यह मानकर सकल्प पर दृढ रहो और उस पर दृढ विश्वास रखो।

आज के लोगो की श्रद्धा लगडी बन गई है। उसमे उत्साह या सत्सकल्प नहीं रहा है। लोग समझते हैं कि सत्सकल्प के चक्कर मे पड जाएगे तो हमारा काम ही अटक जायगा। अतएव सत्सकल्प की बात केवल सुनने-भर के लिए है, अमल के लिए नहीं।

लोग इस प्रकार की बाते बनाकर निकल भागते हैं। पर इस प्रकार की निर्बलता धारण करने से किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। सच्ची स्वतन्त्रता तो क्षमा, जितेन्द्रियता, निरारभता और प्रव्रज्या से ही प्राप्त हो सकती हे। इनके सिवाय और सब बातें परतन्त्रता में डालने वाली हें।

जो सकल्प प्रशस्त हो, जिसमे विकार न हो और जिसका प्रत्येक परिस्थिति मे पालन किया जाय, वह सत्सकल्प कहलाता है। अस्वस्थ अवस्था मे किये सकल्प का स्वस्थ अवस्था मे पालन करना सत्सकल्प है। एक बार सकल्प किया और जब उसको पूर्ण करने का समय आया तो

सकल्प के अनुसार कर्तव्यपालन न किया तो उसे दृढ सकल्प नहीं कह सकते। जो सकल्प प्रत्येक परिस्थिति मे कर्तव्यपालन की ओर ही प्रेरित करता है वही सत्सकल्प है।

सत्य में कोई भेदभाव नहीं है

सूर्य सर्वत्र दिखाई देता है। उसके दीखने मे किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। लेकिन सूर्य की किरणे काच के टुकडे पर पडकर जैसी चमक देती हैं, वैसी चमक किसी ठीकरी पर पडकर नहीं देतीं। फिर भी काच की भाति ठीकरी पर चमक न देने पर भी सूर्य मे किसी प्रकार का भेद नहीं होता। वह तो सर्वत्र एक रूप से ही अपना प्रकाश फैलाता है।

सत्य सर्वत्र एक है। वह देश और काल की सीमाओ से परे हैं ससार के सभी सम्प्रदाय उसी सत्य को ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। यही कारण है कि सब सम्प्रदायो मे मूल बात अहिंसा को स्थान मिला है, तथा अन्य मौलिक बातो मे भी समानता है। कौन सम्प्रदाय ऐसा है जो पारस्परिक भ्रातृभाव का निषेध करता है ? किस पथ में विधर्मी के प्रति सोजन्यपूर्ण व्यवहार करने का विरोध किया गया है ? फिर भी लोगो की प्रकृति मे ऐसी बुराइया आ घुसी हैं, उनके हृदय इतने सकीर्ण एव शकाशील हो गये हैं कि अच्छी वस्तु भी बुरी नजर आती है। अतएव जब तक प्रकृति मे परिवर्तन नहीं होता, अन्त करण मे निर्मलता नहीं आती, तब तक धर्म के सच्चे और गूढतम रहस्यो का पता नहीं चल सकता।

मित्रो ! जो निगूढतर तत्त्व तुम्हारी बुद्धि से परे हें और जिस तक तुम्हारी पहुच नहीं हो पाती, उसे अगर न भी जान सको, तब भी इतना तो समझ लो कि जो वस्त्र मलिन है और मलिन दिखाई दे रहा है, उसे स्वच्छ कर लेने मे क्या हर्ज है ? ऐसा समझकर अगर आप अपने अन्त करण को निर्मल बना ले तो आपका अन्त करण एक प्रकार के अद्भुत प्रकाश से देदीप्यमान होने लगेगा और तब सत्य का प्रकाश भी प्राप्त हो जायगा।

अत सर्वप्रथम यह देखने की आवश्यकता हे कि हम किस जगह भूल

करते हैं ? किस स्थान पर हमारा सच्चा मार्ग हमसे छूट जाता है और हम विपथगामी बनते हैं ? मेरे विचार मे सबसे पहली भूल तब होती है जब कोई मनुष्य बुरा काम करता है लेकिन उसे बुरा न समझकर अच्छा समझता है। भूल को भूल समझ लेने से वह इतनी भयकर नहीं रहती। मगर जब भूल, भूल ही नहीं मालूम हो, तब भूलो की परम्परा चल पडती है और भूल करने वाला उसका परिमार्जन करने की ओर भी ध्यान नहीं देता इसी कारण ससार चक्र मे पडकर अपने अन्तर को मलिन बनाये हुये है। लोग अपने अन्त करण की मलिनता अपनी आखो से देखना चाहते हैं परन्तु आखो से वह दीखती नहीं है। अतएव प्रत्येक वस्तु को पकड कर देखो और प्रत्येक भावना की जाच करो।

पर्युषण पर्व

❖ ❖ ❖

'पर्युषण' का अभिप्राय क्या है, यह देखने की आवश्यकता है।'

'पर्युषण' अर्थ को प्रकट करने वाले प्राकृत भाषा में दो शब्द है-'पज्जुसणा' और 'पज्जोसवणा।' इनमे 'पज्जुसणा' का सस्कृत रूप ही 'पर्युषणा' या 'पर्युषण' है और 'पज्जोसवणा' का 'पर्युषणा' के अतिरिक्त 'पर्युपशमना' सस्कृत-रूप और होता है। 'पर्युषण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है- 'पूर्ण रूप से निवास करना' और पज्जोसवणा या पर्युपशमना का अर्थ है- 'पूर्णरूप से शान्त करना या जिसके द्वारा पूर्ण रूप से शान्त किया जाय।'

'पर्युषणा' का दूसरा रूप पर्युपशमना है। पर्युपशमना अर्थात् शान्त करना। अनादि काल से आत्मा मे विकारो की विद्यमानता होने के कारण आत्मा सतप्त रहती है, क्षुब्ध रहती है, चचल बनी रहती है। इन विकारो की बदौलत आत्मरमण का अद्भुत आनन्द लुप्त हो रहा है। अतएव उन विकारो को शान्त करना, जिनके द्वारा विकार शान्त हो सकते हो उन शुभ भावो का अवलम्बन करना, अशुभ भावनाओ पर विजय प्राप्त करना, पर्युपशमना है।

यहाँ 'पर्युषणा' के जो दो रूप बताये गये हैं उनमे एक साध्य है और दूसरा साधन है। आत्मा मे पूर्ण रूप से निवास करने के लिए विकारो के उपशमन की आवश्यकता होती है। जब तक विकारो की उपशान्ति नहीं हो

जाती, तब तक आत्मरमण का अपूर्व आस्वादन नहीं किया जा सकता। अतएव 'पर्युपशमना' से विकारो को शात करके 'पर्युपणा' अर्थात् आत्मस्थिति–स्वरूप मे अवस्थान करना ही पर्युषण पर्व की आराधना करना है।

पर्युषण पर्व का सन्देश

दूसरे के अधिकारो का अपहरण करके यश प्राप्त करने की इच्छा मत करो, जिसका अधिकार हो, उसे वह सौंप कर यश के भागी बनो।

तुम्हारे इस बहूमूल्य जीवन का समय निरन्तर अविश्रान्त गति से व्यतीत होता जा रहा है। जो समय जा रहा है वह फिर कभी नहीं मिलेगा। इसलिये हे मित्र, प्रमाद मे समय मत गवाओ। कोई ऐसा कार्य करो जिससे तुम्हारा और दूसरो का कल्याण हो।

साधारणतया ससार के सभी प्राणी कोई–न–कोई क्रिया करते हैं। लेकिन अज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया से कुछ भी आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। जो क्रिया ज्ञानानुसारिणी नहीं है वह प्राय निष्फल ही सिद्ध होती है।

तुम मानते हो कि हम महल और धन–दौलत आदि के स्वामी हैं, पर एक बार एकाग्रचित्त से सोचो कि वास्तव मे ही क्या तुम उनके स्वामी हो ? कहीं वे तुम्हारे स्वामी तो नहीं हैं ? तुम उनके गुलाम ही तो नहीं हो ?

जिस वस्तु के साथ तुम अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हो, पहले उससे पूछ देखो कि वह तुम्हे त्याग कर चली तो नहीं जाएगी ? इसी प्रकार अपने कान, नेत्र, नाक आदि से पूछ लो कि वे बीच मे दगा तो नहीं देगे ? अगर दगा देते हैं तो तुम उन्हे अपना कैसे मान सकते हो ?

जितनी अधिक सादगी हागी, पाप उतना ही कम होगा। सादगी मे ही शील का वास है। विलासिता बढाने वाली सामग्री हापाप का कारण है। वह विलासी को भी भ्रष्ट करती है और दूसरो को भी।

किसी भी दूसरे की शक्ति पर निर्भर मत बनो। समझ लो, तुम्हारी एक मुट्ठी मे स्वर्ग है, दूसरी मे नरक है। तुम्हारी एक भुजा मे अनन्त ससार है और दूसरी मे अनन्त मगलमयी मुक्ति है। तुम्हारी एक दृष्टि मे घोर पाप हे

और दूसरी दृष्टि मे पुण्य का अक्षय भडार भरा हे। तुम निसर्ग की समस्त शक्तियो के स्वामी हो, कोई भी शक्ति तुम्हारी स्वामिनी नहीं है। तुम भाग्य के खिलौने नहीं हो वरन् भाग्य के निर्माता हो। आज का तुम्हारा पुरुषार्थ कल भाग्य बन कर दास की भाति सहायक होगा।

मुह से जेसी ध्वनि निकालोगे वैसी ही प्रतिध्वनि सुनने को मिलेगी। अगर कटुक शब्द नहीं सुनना चाहते तो अपने मुह से कटुक शब्द मत निकालो।

संवत्सरी का सन्देश

सवत्सरी के दिन वर्षभर के पाप की आलोचना की जाती है। अन्त करण मे जमा हुई गदगी को हटा देने का यह पर्व है। सवत्सरी के पश्चात् हृदय निर्मल होकर जीवन का नया पथ निर्मित होना चाहिए, जिस पर चलकर आत्मा अपने अक्षय कल्याण के परम लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफल हो सके। भावना मे पावनता लाने और हृदय को स्वच्छ बनाने के लिए क्षमायाचना की जाती हे। यह एक परम पवित्र प्रणाली हे। केवल ऊपरी रूप से इसका अनुसरण मत करो वरन् उसकी चेतना को जाग्रत् रखो। उसका सजीव रूप मे पालन करो। ऐसा करने से आपका जीवन ऊची कक्षा मे पहुचेगा और धर्म की भी प्रभावना होगी। क्षमायाचना के लिए महाराज उदायी का दृष्टान्त सामने रखो। महाराज उदायी ने पराजित और बधनबद्ध चन्डप्रद्योत का राज्य सवत्सरी संबधी क्षमायाचना के उपलक्ष्य मे सहर्ष लौटा दिया था। इसे कहते हैं क्षमायाचना। किसी के अधिकार को दबाए रखो और फिर उससे क्षमा मागो तो यह क्षमायाचना के महत्त्व को बढाना नहीं, घटाना है।

यह पवित्र दिन पुराने पापो को धोने और नये पाप न करने के दृढ सकल्प का दिन हे। आशय यह है कि लोभ के कारण सासारिक कामो मे भी धर्म सवधी जो त्रुटिया रहती हो, उन्हे दूर करने का सकल्प कीजिए और भविष्य मे वे त्रुटिया मत रहने दीजिए। अपवित्रता को दूर करके आत्मा को पवित्रता के सरोवर मे स्नान कराइए।

क्षमापणा का अर्थ

जैन परम्परा मे चौरासी लाख जीवयोनियो से 'खमाने' की परम्परा चालू है। पर जहा विरोध उत्पन्न हुआ हो वहा क्षमा–याचना करना ही सच्ची क्षमा है। दूसरे का दिल दुखाया हो अथवा उसके दिल मे कलुषता उत्पन्न की हो, अथवा दूसरो की ओर से अपने दिल मे मलिनता उत्पन्न हुई हो तो उस विरोध या कलुषता को क्षमा के आदान–प्रदान द्वारा शान्त कर देना ही सच्ची क्षमापणा है। एकेन्द्रिय जीवो या द्वीन्द्रिय जीवो की ओर से तुम्हे कोई सताप हुआ तो उसे भूल जाना और हृदय मे इस सबध की कोई कलुषता न रहने देना और अपने हृदय को पूरी तरह निर्वैर बना लेना क्षमापणा का उद्देश्य है।

विश्व के समस्त प्राणियो पर निर्वैरभाव रखना और विश्वमैत्री की भावना विकसित करना क्षमापणा का महान आदर्श और उद्देश्य है। मनुष्य के साथ मनुष्य का सबध अधिक रहता है अतएव मनुष्यो के प्रति निर्वैरवृत्ति धारण करने के लिए सर्वप्रथम अपने घर के लोगो के साथ, अगर उनके द्वारा कलुषता उत्पन्न हुई हो या उनके चित्त मे कलुषता हुई हो, तो क्षमा का आदान–प्रदान करके विश्वमैत्री का शुभ समारम्भ करना चाहिए।

क्षमापणा प्राय हमेशा की जाती है। प्रतिक्रमण के पश्चात् क्षमापणा करने की प्रथा है। पर यह देखना आवश्यक है कि उस क्षमा का उद्गम स्थान कहा है ? वह अन्त करण से उद्गत हुई है या जिह्वा से ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि प्रतिक्रमण करके उपाश्रय मे भाई के साथ क्षमापणा करते हो और बाहर निकलते ही भाई के खिलाफ कोर्ट के किवाड खटखटाते हो ? पहले का वैरभाव चालू तो नहीं रखते ? अगर इस तरह बाहर से क्षमाभाव प्रदर्शित करो और भीतर वैरभाव चालू रखो तो वह सच्ची क्षमापणा नहीं है। सच्ची क्षमापणा कर लेने के पश्चात् पारस्परिक वैमनस्य या झगडा चालू नहीं रह सकता।

स्वतन्त्रता के रक्षक कौन ?

तुम भारत मे जन्मे हो। तुममे भारत का क्षेत्रविपाकी गुण होना स्वाभाविक है। फिर भी तुम अपने रग–ढग, खानपान और पहनावे को देखो। तुम भारतीय हो पर भारतीय भाषा क्या तुम्हे प्यारी लगती है ? अगर मातृभाषा तुम्हे प्रिय नहीं है तो इसे दुर्भाग्य के सिवाय और क्या कहा जाय ? परदेशी लोग भारत की प्रशसा करे और तुम भारतीय होकर भी भारत की अवहेलना करो, यह कुछ कम दुर्भाग्य की बात नहीं है।

स्वतत्रता तो सभी चाहते हैं किन्तु जो लोग आकाश में स्वैर विहार करने की तरह केवल लम्बे–चौडे भाषण ही करना चाहते हैं, उनसे परतत्रता का जाल कट नहीं सकता। परतन्त्रता का जाल तो जमीन को खोदने वाला किसान ही काट सकता है।

अय मेरे वतन के लोगों..........

❖ ❖ ❖

अमेरिकन डाक्टर थॉर एक आध्यात्मिक विद्वान था। एक बार वह अपने शिष्यो के साथ जगल में घूमने गया। वहा उसके शिष्यो ने थॉर से पूछा 'स्वर्ग की भूमि अच्छी या यहा की भूमि ?' थॉर ने उत्तर दिया–'जो भूमि तुम्हारा बोझ सहन कर रही है, जिस भूमि के उपादानो से तुम्हारे शरीर का निर्माण हुआ है, उसे अगर स्वर्ग की भूमि से हलकी समझते हो तो उस पर पैर धरने का भी तुम्हे अधिकार नहीं है।'

इस प्रकार जिस भूमि से तुम्हारा अपरिमित कल्याण हो रहा है, उसे तुच्छ मानकर स्वर्ग का गुणगान करते रहना एक प्रकार का व्यामोह ही है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

बूढा भारत गर्व के साथ कहता है– मैं आर्य प्रजा का जनक, पुरातन गौरवगरिमा से मडित देश हू। मुझे नगा बनाने की विदेशियो ने कितनी ही

चेष्टाए की हो, मेरे बृहत् भडार मे से विदेशी कितनी ही सम्पत्ति क्यो न लूट ले गये हो, फिर भी मैं सदा के लिए दरिद्र और नगा नहीं हुआ हू। केवल दस वर्ष तक ही अगर हमारे यहा की गौए न मारी जावे, मेरा कच्चा माल बाहर न भेजकर पक्का माल बाहर से न मगाया जावे, तो फिर मैं वही सुवर्णकाल का भारत बन जाऊगा। मैं शीघ्र ही ससार के समुन्नत किसी भी देश से प्रतिस्पर्धा मे बाजी मार लूगा।'

आपने इसी भारतभूमि पर जन्म ग्रहण किया है। इसी भूमि पर आपने शैशव–क्रीडा की है। इसी भूमि के प्रताप से आपके शरीर का निर्माण हुआ है। हस ने मानसरोवर से जो–कुछ प्राप्त किया है, उससे कहीं बहुत अधिक आपने अपनी जन्मभूमि से पाया है। अतएव हस पर मानसरोवर का जितना ऋण है, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऋण आपके ऊपर अपनी जन्मभूमि का है। इस ऋण को आप किस प्रकार चुकाएगे ?

राष्ट्र के प्रति हमारा उत्तरदायित्व है

जिस कार्य से राष्ट्र सुव्यवस्थित होता है, राष्ट्र की उन्नति–प्रगति होती है, मानव समाज अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करना सीखता है, राष्ट्र की सपत्ति का सरक्षण होता है, सुख–शाति का प्रसार होता है, प्रजा सुखी बनती है, राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढती है और कोई अत्याचारी राष्ट्र के किसी भाग पर अत्याचार नहीं कर सकता, वह कार्य राष्ट्रधर्म कहलाता है।

राष्ट्र के प्रत्येक निवासी पर राष्ट्रधर्म के पालन करने का उत्तरदायित्व है, क्योकि एक ही व्यक्ति के भले या बुरे काम से राष्ट्र विख्यात या कुख्यात (बदनाम) हो सकता है।

हम लोगो को जन्म देने वाली, पाल–पोस कर बडा करने वाली माता तो माता है ही, मगर अपने पेट मे से पानी निकाल कर पिलाने वाली, अपने उदर में से अन्न निकाल कर देने वाली, स्वय वस्त्रहीन रहकर हमें वस्त्र देने वाली और माता की भी माता हमारी मातृभूमि है। माता और मातृभूमि का जितना उपकार माना जाय उतना ही कम है।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी हैं। यह कथन सोलह आने सत्य है। यह भारतवर्ष अपना देश है। अपनी मातृभूमि है। हम सब उसकी सतान हैं। माता की आबरू रखना, माता की प्रतिष्ठा की रक्षा करना सतान का कर्तव्य है।

अत निम्नलिखित सुवर्णाक्षर अपने हृदयपट पर अकित कर लो–

'राष्ट्र की रक्षा मे हमारी रक्षा है। राष्ट्र के विनाश मे हमारा विनाश है।'

राष्ट्रधर्म का मुख्य सार यह है –

ऐक्य, राज्य, स्वातन्त्र्य, यही तो राष्ट्र अंग है।
सिर, धड, टागो सदृश, जुडे है सग संग है।।
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सब, मिले एक ही धार में।
मिला शाति-सुख राष्ट्र के पावन पारावार में।।

विवेक और विचार की आवश्यकता

भारतीयो को भारतीय वस्तु रुचती नहीं है और विदेशी वस्तुए किस प्रकार बनाई जाती हैं, यह बात वे जानते नहीं हैं। वास्तव मे यह देश को लज्जित करने वाली बात है। आप तेल का भी उपयोग करते होगे, परन्तु कौन–सा तेल किस प्रकार बना है और वह आपकी प्रकृति के लिये अनुकूल है या प्रतिकूल। इन बातो पर भी कभी आपने विचार किया है ? आज की पोशाक ही इतनी पापमय है कि तेल, लवडर और सेट के बिना काम ही नहीं चल सकता। आज तो खाने की वस्तुओं की अपेक्षा भी पहनने की वस्तुए भारी हो रही हैं।

आज महिलाओ मे भी नये–नये फैशन चले हैं और कितने ही लोगों का कहना है कि उन्हे अपनाने मे हानि ही क्या है ? मगर ऐसे अन्धानुकरण-प्रेमी यह नहीं सोचते कि खान–खान और वेषभूषा का परिणाम क्या होता है ? इससे सस्कृति, स्वभाव और प्रकृति पर कैसा प्रभाव पडता है ?

वास्तविक जीवनोपयोगी वस्तुओ का त्याग करके जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुओ को अपना लेने से आज बडी बेढगी स्थिति उत्पन्न हो गई है।

यह सब प्रकृति के साथ वैर विसाहने के समान है। प्रकृति के साथ वैर करने के क़ारण ही ऐसे–ऐसे रोग फूट पडे हैं जिनका कभी नाम भी नहीं सुना था।

अभिप्राय यह है कि खान–पान और वेष–भूषा से भी जीवन प्रभावित होता है, अतएव इनमे विवेक और विचार रखना चाहिए।

राजनीति का राजमार्ग

आज विश्व में जो राजनीति प्रचलित है उसका मुख्य आधार छल–कपट है। राजनीतिज्ञो की धारणा है कि बिना चालबाजी किये राजनीति मे सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। एक ओर सुलह– सधि की बाते की जाती हैं और दूसरी ओर हिंसात्मक आक्रमण की तैयारियॉ चालू रहती हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को भुलावे में रखकर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की पुकार मचाता है और दूसरी ओर परिस्थिति अनुकूल होते ही उस पर हमला बोल देता है। तात्पर्य यह है कि इस समय की राजनीति, न्याय या प्रामाणिकता की सर्वथा उपेक्षा करती हुई मायाचार के जाल मे जकडी हुई है। मगर इससे दुनिया मे घोर अशान्ति है, कौन मित्र है और कौन शत्रु है, कौन किस समय क्या कर गुजरेगा, इन बातों का ठीक–ठीक पता न लगा सकने के कारण प्रत्येक राष्ट्र का और प्रत्येक राजनीतिक दल का, प्रत्येक क्षण नाना प्रकार के कपट–जाल के निर्माण मे ही लग रहा है। कपट–जाल की उलझन बढती जा रही है और उसको बढाने मे घोर प्रतिस्पर्धा हो रही है। जो छल–कपट मे जितना अधिक कुशल है वह राजनीति में उतना ही उस्ताद माना जाता है।

समग्र विश्व छल–नीति का शिकार हो रहा है। पारस्परिक अविश्वास की मात्रा इतनी अधिक बढ गई है कि अगर कोई अन्त करण से सच्ची सद्‌भावना प्रदर्शित करता है तो उस पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। उसके विषय में भी यही सोचा जाता है कि न जाने किस गूढ अभिप्राय से वह ऐसी बाते कह रहा है ? इस प्रकार सर्वत्र अविश्वास, सर्वत्र असतोष और शकाशीलता के साम्राज्य मे कौन सुख की सास ले सकता है ?

इसके अतिरिक्त, जो कपटनीति से काम लेता हे, उसकी विजय कभी–न–कभी पराजय के रूप मे परिणत हुए बिना नहीं रह सकती। वह अपनी कपट का आप ही शिकार बन जाता है। प्राय देखा गया है कि जो समूह अपने विरोधियो के साथ छल–नीति का प्रयोग करता है, वह अन्त मे आपस मे एक–दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करके अपने समूह की शक्ति को नष्ट कर डालता है।

मनुष्यता का मापदंड

अमीर लोग मनुष्यता को शायद वस्त्रो और आभूषणो से नापते हैं। अगर मनुष्यता को नापने का यही गज न हो तो वे मनुष्य की प्रतिस्पर्द्धा में बहुत पिछड जावे। इसी से उन्होने यह गज मान लिया है। उनकी निगाह मे वह मनुष्य निरा जगली पशु है, जिसके पास पहनने को कपडा नहीं और सजने को आभूषण नहीं। मगर बात असल मे उलटी है। जिसके पास मनुष्यता का बहूमूल्य आभूषण है उसे जड आभूषणो की क्या आवश्यकता हे ? जिन्हे मनुष्यत्व का वास्तविक और सहज आभूषण प्राप्त नहीं है वही लोग ऊपर से आभूषण लाद कर अपने-आपको आभूषित घोषित करते हैं।

जो शरीर अरिहतो को, गणधरो को, महान मुनिराजो को और बडे–बड़े श्रावको को मिला था वही शरीर आपको मिला है। ध्यानपूर्वक देखो तो मालूम होगा कि इस शरीर मे कितनी सुन्दरता है। इस शरीर का सदुपयोग किया जाय तो परमात्मा और आत्मा की एकरूपता होने मे देर न लगे।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य जन्म बडे पुण्य से मिलता है। जो मनुष्य इस अमूल्य देह को पाकर भी व्यर्थ की मौज–शौक मे इसका अन्त कर देता है, उसके बराबर कोई मूर्ख नहीं कहला सकता। बुद्धिमान मनुष्य इस देह को पाकर क्षण–क्षण मे अपनी श्रेष्ठ साधना का मत्र जपता रहता हे, पर मूर्ख यही समझता है कि मैंने मनुष्य–जन्म पाया है, फिर ऐसी देह नहीं मिलेगी, इसलिए जो-कुछ मौज–शौक कर लू वही मेरे हैं।

जो लोग भोगो का उपभोग करने मे ही मनुष्य जन्म की सार्थकता सम्झते हैं, वे भी कहते हैं कि मनुष्य जीवन की प्राप्ति दुर्लभ है। जो लोग

ोगोपभोग के त्याग मे ही मानव जीवन का विकास मानते हैं इसीलिए त्याग का उपदेश देते हैं, वे भी मानव–भव को दुर्लभ कहते हैं। उनका कथन यह है कि मनुष्य–भव बारम्बार मिलना कठिन है अतएव अतृप्तिप्रद एव निस्सार भोगो के लिए मूल्यवान् मानव-भव गवाना उचित नहीं है। इस प्रकार मनुष्यभव की दुर्लभता सर्वसम्मत है, भले ही विभिन्न दृष्टिकोणो से देखा जाय। वास्तव मे इस अनमोल जीवन को पाकर इसे सफल बनाने का विचार अवश्य करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जो लोग भोजन–वस्त्र–मकान आदि के उपयोग मे ही मनुष्य जन्म को सार्थक मानते हैं, वे पशु–पक्षियो से अधिक कुछ भी प्रगति नहीं कर सकते। मनुष्य-जन्म की सार्थकता आत्मा के उस विकास मे निहित है जो न केवल क्षुद्र वर्तमान मे ही उपयोगी एव कल्याणमय है, वरन् जिससे अनन्त मगल–साधन होता है।

मनुष्यता से नीचे न गिरो

वास्तव में देखा जाय तो ससार की वस्तुओं को अपने भोग के लिए मानकर उनके अधीन हो जाने मे सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख स्वतन्त्रता में है। अगर कहा जाय कि शरीर भोग के लिए ही है तो उसका उत्तर ये है कि भोग तो विष्ठा खाने वाले शूकर भी भोग सकते हैं। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य शरीर भोग के लिए ही है ? यह बात दूसरी है कि किसी की रुचि भोगो मे अधिक हो और वह भोग भोगने मे ही शरीर की सार्थकता समझ ले, पर ससार मे कुछ लोग ऐसे भी तो मिलते हैं जो भोगो को भुजगम के समान मानकर उनसे विमुख हो जाते हैं। भोगो की ओर उनकी रुचि नहीं जाती। अतएव सिर्फ रुचि के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि मानव शरीर भोग के निमित्त है।

इस ससार में मनुष्यो की दो श्रेणियाँ की जा सकती हैं। पहली श्रेणी में वे हैं जो अपना जन्म भोग के लिए ही मान रहे हैं और दूसरी श्रेणी उनकी है जो जीवन का उद्देश्य तप समझते हैं। इन दो श्रेणियो के लोग पहले भी

थे और आज भी हैं। इन दोनो में कितना अन्तर है ओर अन्त मे किसके लिए क्या परिणाम निकलता है, यह बात सभी जानते हैं।

अत आप स्वतन्त्रता चाहते हैं तो सादगी को अपनाइये और दैवी बल प्राप्त कीजिये। कभी मनुष्यत्व से नीचे मत गिरिये। निरन्तर प्रयास कीजिये कि आपकी आत्मा उन्नत, उज्ज्वल और निर्विकार बनती जाय। ऐसा करने से आपका कल्याण होगा।

....तो फिर भय क्यों ?

जब झूठ से भय होता है, सत्य से भय नहीं होता, तो फिर तुम्हें क्या भय है ? कदाचित तुम सोचो कि हमारी सत्य बात मानी नहीं जायगी, लेकिन अगर कोई सत्य पर विश्वास नहीं करता तो तुम्हारी क्या हानि है ? तुम अपने सत्य पर अटल रहो। असत्य के भय से सत्य को त्यागकर असत्य का आसरा लेने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी सत्य बात मानी नहीं जायगी, यह विचार कर अगर भय किया तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हे सत्य पर पूर्ण विश्वास नहीं है। चिन्ता नहीं, अगर कोई तुम्हारे सत्य पर विश्वास नहीं करता। भले ही तुम्हारे सत्य की लोग निन्दा करे, खिल्ली उडावें या सत्य के कारण भयकर यातना पहुचावे, परन्तु भय मत खाओ। अगर तुम भय खाते हो तो समझ लो कि तुम्हारे अन्तर के किसी–न–किसी कोने मे असत्य के प्रति श्रद्धा का कुछ भाव मौजूद है। सत्य पर जिसे पूर्ण श्रद्धा है वह निडर है। ससार की कोई भी शक्ति उसे भयभीत नहीं कर सकती।

शास्त्र मे सत्य को 'अबाधित' और 'भगवान' बतलाया गया है। जिसमे सत्य है उसे भय नहीं है, क्योंकि सत्य 'अबाधित' है– बाधा रहित है और जहा बाधा नहीं, वहा भय किस बात का ? प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा है– 'त सच्च भगवओ' अर्थात् सत्य भगवान है। सत्य भगवान है, इसलिए सत्य की आराधना करो। सत्य का आसरा गहो। सत्य पर श्रद्धा रखो। सत्य का आचरण करो। मन से, वचन से और काय से सत्य की आराधना करो। सत्य भाषण करने से निडर बन जाओगे। सत्य बोलने से अगर कोई प्राण ले ले तो भी परवाह मत करो।

तुम किसी से भय न करके सत्य ही सत्य का व्यवहार रखो तो तुम जान जाओगे कि मुझे परमात्मा मिल गया। परमात्मा की शरण में जाने का उपाय है– सत्य। भय का स्थान तो असत्य है। सत्य का ही व्यवहार करना और किसी से भय न खाना ही मोह को जीतना कहलाता है।

मित्रो ! अगर आप अपने प्रत्येक जीवन–व्यवहार को सत्य की कसौटी पर कसे, सत्य को ही अपनावें और सत्य पर पूर्ण श्रद्धा रखे तो आप परमात्मा की शरण मे पहुच सकेगे और आपका अक्षय कल्याण होगा।

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर

कायर अपनी बुराई को छिपाता रहता है और समझता है मैंने लोगो की आखो में धूल झोक दी है, लोग मेरी ऐबों को देख ही नहीं सकते। ज्ञानीजन अपनी बुराई को छिपाने का प्रयत्न ही नहीं करते। वे उसे ज्यो-का-त्यों प्रकट करके अपने हृदय का मलिन बोझ उतार कर हलके हो जाते हैं। उन्हें मालूम है, छद्‌मस्थ से भूल होना स्वाभाविक है। केवल वीतराग भगवान् के सिवाय और सभी भूल के पात्र हैं। ऐसी स्थिति मे किसी भूल को छिपाने के लिए छल–कपट और मिथ्या का आश्रय लेकर नवीन पाप बाधने से क्या लाभ है ? अपनी भूल को छिपाने का प्रयास करना अज्ञान है, मूर्खता का लक्षण है।

जो लोग अपने अवगुणो को बडे यत्न से छिपाकर अन्त करण में सुरक्षित रख छोडते हैं उनका हृदय उनके अवगुणो का स्थायी निवास–स्थान बन जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें सदा इस बात की चिन्ता रहती है कि अभी किसी प्रकार हमारे अवगुण प्रकट न हो जाए। वे सदा भयभीत रहते हैं, दबे रहते हैं। खुल कर बात करने में उन्हे मन–ही–मन लज्जा होती है।

भूल हो जाना अच्छी बात नहीं है, पर उस भूल को छिपा कर अपने-आपको भूलरहित प्रकट करने की भूल करना बहुत ही जघन्य कृत्य है। अधिक–से–अधिक सावधान रहकर भूल न होने देने की चेष्टा करो, पर फिर भी अगर भूल ही जाय तो सच्चे मर्द की तरह उसे स्वीकार कर लो। उसे प्रकट कर दो। उसे दबाने की रचमात्र भी चेष्टा मत करो। इससे तुम्हारी

प्रतिष्ठा को हरगिज धक्का न पहुचेगा। अगर प्रतिष्ठा को धक्का लगता हो तो भी परवाह मत करो। ऐसा करने से तुम्हारा आत्मबल बढेगा और तुम अपनी नजरो मे आप ही गिरने से बच सकोगे।

ज्ञानीजन कहते हैं, मैं दूसरो के दोषो के विषय मे क्या कहू ? मुझ–सा कुटिल और कामनाओ से कलकित दूसरा कौन है ? बस, मुझ–सा पापी मैं ही हू। मुझ–सा कामी अकेला मैं हू। दुर्गुणो मे मेरी समानता करने वाला और कोई नहीं है।

ज्ञानवान् पुरुष दूसरों की दलीलो मे नहीं पडते। वे अपने-आपको अपनी ही तराजू पर तोलते हैं। वे अपने–आपको दोष का पात्र प्रकट करते हैं।

चालबाजियो से काम लेने वाले लोग धर्म का मर्म नहीं समझते। इसी से उनका पैर सत्य पर नहीं टिकता। कोई पाप छिपाने का प्रयास करे, भले ही न करे, पर पाप छिप नहीं सकता। उसका कार्य चिल्ला–चिल्ला कर उसके पापो की घोषणा कर देगा। वह बता देगा कि वह पापी है या पुण्यात्मा है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया

❖ ❖ ❖

मुख के द्वारा भोजन किया जाता है, यह तो सभी जानते हैं, पर भोजन पथ्य है या अपथ्य, यह जानना भी आवश्यक है। अपथ्य भोजन करने वाले रोगी और परिणामत दुखी देखे जाते हैं ? इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सिद्धि के लिए, चाहे वो व्यावहारिक हो या पारमार्थिक हो, तुच्छ हो या महान हो, ज्ञान और क्रिया दोनो अपेक्षित हैं। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया से कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

ज्ञानरहित क्रिया बहुत बार हानिकारक सिद्ध होती हे। इसी प्रकार क्रियारहित ज्ञान तोतारटत मात्र है। एक आदमी ने तोते को सिखाया कि– 'बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए।' रट लिये, रटता रहा। एक बार बिल्ली आई और उसने तोते को अपने निर्दय पजे मे पकड लिया। उस समय भी तोता यही रटता रहा– 'बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए।' लोग कहने लगे, 'मूर्ख तोता। अब कब बिल्ली आयगी और कब तू बचेगा।'

आशय यह हे कि तोते को ज्ञान होने पर भी क्रिया के अभाव मे वह बच न सका। इस प्रकार क्रियाविहीन ज्ञान निरर्थक होता है।

अगर जीवन मे किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करनी है तो पहले उसका स्वरूप, उसके साधन और उसके मार्ग को समीचीन रूप से समझो और फिर तदनुकूल क्रिया करो। ऐसा किये बिना जीवन सफल नहीं हो सकता।

बहिर्मुखी बुद्धि से आत्मा का ज्ञान नहीं होगा

आज सर्वसाधारण की बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। बुद्धि दृश्यमान भौतिक पदार्थो को पकडने दौड रही है। मगर बुद्धि की यह दौड आत्मा की परछाईं तक नहीं पा सकती। आत्मा की शोध बुद्धि की सामर्थ्य से परे है। यही नहीं, बल्कि बुद्धि के द्वारा आत्मा का कल्याण भी होना सभव नहीं है।

पाश्चात्य लोगो ने बुद्धि द्वारा बाह्य भौनिक पदार्थो का खूब विकास किया है। रेडियो की बदौलत अमेरिका मे गाया हुआ गीत भारत मे बैठे–बैठे सुन सकना क्या छोटी बात है ? इस प्रकार बाह्य पदार्थो की शोध और उनका विकास करने मे बुद्धि का उपयोग करने के कारण बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। और बहिर्मुखी बुद्धि वाले आत्मा की खोज नहीं कर सकते। यही नहीं, कुछ लोग तो बहिर्मुखी बुद्धि के प्रभाव से प्रभावित होकर यहा तक कहने का साहस करते हैं कि आत्मा कोई चीज ही नहीं । ऐसे लोग, बुद्धि के द्वारा भौतिक पदार्थो के सान्निध्य मे इतने अधिक आ गये हैं कि उनकी दृष्टि मे भौतिक पदार्थो के सिवाय कोई वस्तु ही नहीं है। यह भ्रम इसी कारण उत्पन्न हुआ है कि बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। यदि बुद्धि को बहिर्मुखी न बनाकर अन्तर्मुखी बनाया जाय तो वही बुद्धि आत्मोन्मुख बन सकती है। बुद्धि को अन्तर्मुखी बनाने वाले महात्मा आज भी भारतवर्ष में मौजूद हैं। ऐसे महात्मा मौजूद न होते तो जगत् मे प्रलय न मच्च जाता ? प्राचीनकाल के महात्माओ ने बुद्धि को भौतिक पदार्थों से विमुख रखकर अन्तर्मुखी बनाया था। उन्होने कहा था– इन दृश्यमान बाह्य पदार्थो मे ही विश्व की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। इन भौतिक पदार्थों से परे एक वस्तु और भी विश्व में विद्यमान है और वह आत्मा है। वह आत्मा शाश्वत हे– सनातन है।

उदयपुर में एक वकील महाशय के साथ मेरा वार्तालाप हुआ। वकील महाशय प्रत्यक्षवादी थे। वे आत्मा को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए कहते थे। मैंने उनसे पूछा– 'आप अंग्रेजी पढे हैं ?' वकील बोले– 'जी हॉ।' मैंने कहा– 'आप अपने मस्तिष्क मे से अंग्रेजी निकालकर दिखाइए तो सही वह कैसी है ?' वकील निरुत्तर रहे। मैंने उनसे कहा– 'जब आप अपने मस्तिष्क में से अंग्रेजी निकालकर नहीं बता सकते। तो फिर अमूर्त आत्मा को किस प्रकार बताया जा सकता है ?'

ज्ञान का प्रसार करो।

भाइयो और बहिनो ! इस बात को याद रखो कि ज्ञानयुक्त क्रिया के बिना और क्रियायुक्त ज्ञान के बिना धर्म और ससार को नहीं जान सकते। अतएव जो भी क्रिया सामने आवे उस पर विचार करो कि यह क्रिया मैंने की है या नहीं ? अगर नहीं की तो उस पर मैं अभिमान कैसे कर सकता हूं ? इस प्रकार विचार कर उस क्रिया का बदला देने की भी चिन्ता रखो। अगर आपने ऐसा नहीं किया तो सिर पर ऋण चढा रहेगा।

मित्रो ! समय को देखो। युगधर्म को पहचानो। अपनी बुद्धि को विवेक के मार्ग पर चलाओ। ज्ञान के द्वारा निर्धारित किये हुए काम को करने वाले ही विजयी हो सकते हैं। ज्ञान से निर्णय किये बिना ही काम करने वाले विजय नहीं प्राप्त कर सकते, अतएव ज्ञान की बडी महिमा है। ज्ञान के बाद ही सम्यक् क्रिया आती है। शास्त्रकारो ने ज्ञान को पहले स्थान दिया है और उसके बाद क्रिया को। आप लोग आज ज्ञान को भूल रहे हैं, ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं समझते और कद्र भी नहीं करते, लेकिन ज्ञान से उत्तम कोई वस्तु नहीं है।

अत ज्ञान का प्रचार करने का उद्योग कीजिए। ज्ञान की वृद्धि उन्नति का मूलमन्त्र है। आपके पास जो भी शक्ति हो, ज्ञान के प्रचार में लगाइए। इतना भी न कर सकें तो कम–से–कम ज्ञान और ज्ञान–प्रचार का विरोध मत कीजिए। सच्चे ज्ञान का प्रचार होने पर ही चारित्र के विकास की सम्भावना की जा सकती है।

ज्ञान और चारित्र

ससार की समस्त शिक्षाओ का सार ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति करना है। चारित्र को आचरण भी कहते हैं, मगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनो मे थोडा–सा अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। चारित्ररूप गुणो की आराधना करने की जो विधि बतलाई गई है उस विधि के अनुसार चारित्र को पालन करना आचरण कहलाता है। विधिपूर्वक चारित्र का पालन करने का अर्थ यह है कि चारित्र का पालन ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए। ज्ञान के साथ पाला जाने वाला आचार ही उत्तम आचार है। वही आचार सफल होता है। ज्ञानहीन आचरण और आचरणहीन ज्ञान से उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। कल्याण को अगर रथ मान लिया जाय तो ज्ञान और चारित्र उसके दो पहिये हैं।

शास्त्र में चारित्र की बडी महिमा प्रकट की गई है। लेकिन कोई अगर कोरी क्रिया को ही पकड कर बैठ जाय और वह क्रिया ज्ञानयुक्त न हो तो जैसे अन्धे और पगु के सहयोग के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान के सयोग के बिना की जाने वाली क्रिया से भी फल की प्राप्ति नहीं होती।

इसलिए सूत्र में कहा गया है–

पढमं नाण तओ दया एव चिट्ठई सव्वसंजए।

अर्थात्– पहले ज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसके बाद चारित्र की आराधना हो सकती है। सभी सयमवान् महापुरुष ऐसा ही करते हैं। वे बिना ज्ञान के चारित्र की आराधना करना सभव नहीं मानते। इस प्रकार चारित्र की आराधना करने से पहले ज्ञान की आराधना करना आवश्यक बतलाया गया है।

निर्माणकारी शिक्षा

मित्रो ! शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे गरीबो का हित हो। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समझे, उसे विकसित करे और धीरे-धीरे उसका दायरा विशाल से विशालतर होता चला जाय। शिक्षा का फल यह नहीं है कि शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति निर्बलो, अशिक्षितो, गरीबो का भार रूप बने। अपनी विलासिता की वृत्ति मे वृद्धि करके दूसरो को चूसे। जिस शिक्षा की बदौलत गरीबो के प्रति स्नेह, सहानुभूति और करुणा का भाव जाग्रत् होता है, जिससे देश का कल्याण होता है और विश्वबन्धुता की ज्योति अन्त करण मे जाग उठती है, वही सच्ची शिक्षा है।

भारत मे शिक्षा की बहुत ही कमी है। जो शिक्षा दी भी जाती है, वह इतनी निकम्मी है कि शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक किसी काम के नहीं रहते। वे गुलामी के लिए तैयार किये जाते हैं और गुलामी में ही अपने दिन व्यतीत करते हैं। उनका अपनापन अपने तक या अधिक-से-अधिक अपने सकीर्ण परिवार तक ही सीमित रहता है। उससे आगे की बात उनके मस्तिष्क में प्राय कभी आती ही नहीं है। वे अपने को समाज का अग मानकर समाज के श्रेय में अपना श्रेय एव समाज के अमगल मे अपना अमगल नहीं मानते। समाज मे व्यक्ति का वही स्थान है जो जलाशय मे एक जल-कण का होता है। जल-कण जलाशय से अपने-आपको भिन्न माने तो क्या यह ठीक है ? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जब सामाजिक भावना से हीन हो जाता है, अपनी सत्ता स्वतन्त्र और निरपेक्ष समझने लगता है, तब समाज का उत्थान रुक जाता है, राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे लोगो से विश्वसेवा की आशा ही क्या की जा सकती है ?

अगर तुम अपने अनुभवी शिक्षको से अपने लिए सत्साहित्य का चुनाव करा लोगे तो तुम्हारा बडा लाभ होगा। इससे तुम्हारे पथभ्रष्ट होने की सम्भावना नहीं रहेगी। तुम्हारा मस्तक गदगी का खजाना नहीं बन पायगा।

बालक की शिक्षा : संरक्षक का कर्तव्य

सच्ची शिक्षा है– बालक की दबी हुई शक्तियो को प्रकाश मे ले आना, सोई हुई शक्तियो को जगा देना, बालक के मस्तिष्क को विकसित कर देना, जिससे वह स्वय विचार की क्षमता प्राप्त कर सके। मगर इस तथ्य को कम शिक्षक ही समझते हैं। इस पर भी एक बडी कठिनाई यह है कि सस्कार–सशोधन की ओर आजकल बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। आज की शिक्षा का लक्ष्य विद्वान बना देना–भर है, चारित्रशीलता से उसे कोई सरोकार नहीं। ज्ञान मे ही जीवन की कृतार्थता समझी जाती है। मगर जीवन के वास्तविक उत्कर्ष के लिये उच्च और उज्ज्वल चारित्र की आवश्यकता है। चारित्र के अभाव मे जीवन की सस्कृति अधूरी ही नहीं, शून्य रूप है। यही कारण है कि इस शिक्षा के फलस्वरूप शिक्षित लोग धर्म से दूर जा पडते हैं।

सन्तान के प्रति माता–पिता का क्या कर्तव्य है, और उन पर कितना महान् उत्तरदायित्व है, यह बात माता–पिता को भली–भाति समझ लेनी चाहिये। सन्तान का सुख ससार मे बडा सुख माना जाता है, तथापि सन्तान को अपने मनोरजन और सुख का साधन मात्र बनाकर उसकी स्थिति खिलौने जैसी बना देना उचित नहीं है। जो माता–पिता बालक के प्रति अपने उचित कर्तव्य का पालन नहीं करते, वे अपने उत्तरदायित्व से च्युत होते हैं। माता–पिता बालक को गुडियो की तरह सिगार कर और अच्छा भोजन देकर छुट्टी नहीं पा सकते। जिसे उन्होने जीवन दिया है, उसके जीवन का निर्माण भी उन्हे करना है और जीवन-निर्माण का अर्थ है सस्कार–सम्पन्न बनाना और बालक की विविध शक्तियो का विकास करना। शक्तियो का विकास हो जाने पर सन्मार्ग मे लगे, सत्कार्य मे उनका प्रयोग हो और दुरुपयोग न हो, यह सावधानी रखना भी माता–पिता का कर्तव्य है। इस कर्तव्य की पूर्ति के लिये धार्मिक शिक्षा देने की अनिवार्य आवश्यकता है।

मानो नहीं बल्कि आचरण में उतारो

हम जिस मार्ग पर ससार को जगा कर ले जाना चाहते हैं उस मार्ग के पथिक कुटुम्ब सहित बन जाएँगे तो ससार उस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत होगा। लोगो को उस मार्ग की महत्ता का खयाल आ जायगा।

आप लोग गुरुकुलो और विद्यालयो की प्रशसा करते हैं, समय–समय पर उनके सचालन के लिए आर्थिक सहायता भी देते हैं, पर अगर आप सचमुच ही उन्हे कल्याणकारी समझते हैं तो उन सस्थाओ मे अपने बालको को प्रविष्ट क्यो नहीं कराते ? प्राय गरीबो के ही बालक ही उन सस्थाओ मे क्यो हैं ? अपने लडको को पढाने के लिए आप दूसरी जगह भेजे और दूसरो के लडकों के लिए उन्हे अच्छी बतावे, यह कौनसा न्याय है ? ऐसी स्थिति मे यह सस्थाएँ अच्छी कैसे मानी जाएँगी और इनमें पर्याप्त धन भी कहाँ से आयगा ?

तात्पर्य यह है कि जिसे तुम कर्तव्य मानते हो, उसे केवल मानते ही न रहो– बल्कि आचरण में उतारो। अपने कर्तव्य की भावना को व्यवहार में लाने की चेष्टा करो।

हमारा श्रावक वर्ग दुनियादारी के पचडों मे इतना अधिक फँसा रहता है और उसमे शिक्षा का भी इतना अभाव है कि वह समाज–सुधार की प्रवृत्ति को यथावत् सचालित नहीं कर सकता। श्रावकों मे धर्म–सम्बन्धी ज्ञान भी इतना पर्याप्त नहीं है, जिससे वे धर्म का लक्ष्य रख कर, धर्ममर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रख कर, तदनुकूल समाज– सुधार कर सकें। कदाचित् कोई विद्वान श्रावक मिलता भी है तो उनमे श्रावक के योग्य आदर्श चरित्र और कर्तव्यनिष्ठा की भावना पर्याप्त रूप मे नहीं पाई जाती। वह गृहस्थी के पचडों में पडा हुआ होता है, अतएव उसकी आवश्यकताए प्राय अन्य सामान्य श्रावको के समान ही होती हैं। ऐसी स्थिति में वह अर्थ के धरातल से ऊचा नहीं उठ पाता और जो व्यक्ति अर्थ के धरातल से ऊपर नहीं उठा है, उसमें निस्पृह, निरपेक्ष भाव के साथ समाजसुधार के आदर्श कार्य को करने की पूर्ण योग्यता नहीं आती।

सबसे महान बल

ससार मे सब को सब की आवश्यकता है। किसी को तनबल की आवश्यकता है, किसी को मनोबल की, किसी को धनबल की ओर किसी को राज्य, पचायत या परिवार–बल की आवश्यकता है।

लेकिन आत्मबल मे अद्भुत शक्ति है। इस बल के सामने ससार का कोई भी बल नहीं टिक सकता। इसके विपरीत जिसमे आत्मबल का सर्वथा अभाव है वह अन्यान्य बलो का अवलबन करके भी कृत–कार्य नहीं हो सकता। मृत्यु के समय अनेक क्या अधिकाश लोग दु ख का अनुभव करते हैं। मृत्यु का घोर अन्धकार उन्हे विह्वल बना देता है। बडे–बडे शूरवीर, योद्धा, जो समुद्र के वक्षस्थल पर क्रीडा करते हैं, विशाल जलराशि को चीर कर अपना मार्ग बनाते हैं और देवताओ की भाति आकाश में विहार करते हैं, जिनके पराक्रम से ससार थर्राता है, वे मृत्यु को समीप आता देखकर कातर बन जाते हैं, दीन हो जाते हैं। लेकिन जो महात्मा हैं वे मृत्यु का आलिगन करते समय रचमात्र भी खेद नहीं करते। मृत्यु उनके लिये सघन अन्धकार नहीं है, वरन् स्वर्ग–अपवर्ग की ओर ले जाने वाले देवदूत के समान प्रतीत होती है। इसका कारण क्या है ? इसका एकमात्र कारण आत्मबल है।

आत्मबल सब बलो मे श्रेष्ठ है। यही नहीं, वरन् यह कहना भी अनुचित न होगा कि आत्मबल ही एकमात्र सच्चा बल है। जिसे आत्मबल की लब्धि हो गई है उसे अन्य बल की आवश्यकता नहीं रहती।

इस बल को प्राप्त करने की क्रिया है तो सीधी–सादी, लेकिन क्रिया करने वाले का अन्त करण सच्चा होना चाहिए। वह क्रिया यह है कि अपना बल छोड दो। अर्थात् अपने बल का जो अहकार तुम्हारे हृदय मे आसन जमाये बैठा है, उस अहकार को निकाल बाहर करो। जब तक तुम ऐसा न करोगे, अपने बल पर अर्थात् अपने शरीर, बुद्धि या अन्य भौतिक साधनों के बल पर निर्भर रहोगे, तब तक आत्मबल प्राप्त न हो सकेगा।

अपने पर भरोसा रखो

❖ ❖ ❖

आप अपनी उद्योगशीलता को भूल रहे हैं। आपने अपनी क्षमता की ओर से दृष्टि फेर ली है। आप अपने-आपको अकिंचित्कर मान बैठे हैं। यह दीनता का भाव दूर करो। अपनी असीम शक्ति को पहचानो। सच्चे वीरभक्त हो तो अपने को कर्ता– कार्यक्षम मानकर कल्याण मार्ग के पथिक बनो।

किसी भी दूसरे की शक्ति पर निर्भर न बनो। समझ लो तुम्हारी एक मुट्ठी मे स्वर्ग है और दूसरी मे नरक है। तुम्हारी एक भुजा मे अनन्त ससार है और दूसरी भुजा मे अनत मगलमयी मुक्ति है। तुम्हारी एक दृष्टि मे घोर पाप है और दूसरी मे पुण्य का अक्षय भडार भरा है। तुम निसर्ग की समस्त शक्तियो के स्वामी हो, कोई भी शक्ति तुम्हारी स्वामिनी नहीं है। तुम भाग्य के खिलौने नहीं हो, वरन् भाग्य के निर्माता हो। आज का तुम्हारा पुरुषार्थ कल भाग्य बन कर दास की भाति तुम्हारा सहायक होगा। इसलिए ऐ मानव ! कायरता छोड दे। अपने ऊपर भरोसा रख। तू सब-कुछ है, दूसरा कुछ नहीं है। तेरी क्षमता अगाध है। तेरी शक्ति असीम है। तू समर्थ है। तू विधाता है। तू ब्रह्मा है। तू शकर है। तू महावीर है। तू बुद्ध है।

निर्माण के लिए मात्र योजनाएं नही बनाओ

❖ ❖ ❖

यह सदैव याद रखो– जब तक सघ के अभ्युदय के लिए श्रावको मे त्याग का भाव प्रदर्शित नहीं होगा और जब तक सतो की समाचारी एक नहीं हो जाएगी तब तक कोई योजना पूरी नहीं हो सकती है। योजना योजना के रूप में बनी रहेगी। निराधार कल्पना बनी रहेगी।

यह सदैव याद रखो– कागज पर लिखे हुए प्रस्तावो और निर्णय के मोहजाल मे फसने से कुछ भी लाभ न होगा। आज तक न जाने कितने सुन्दर–सुन्दर प्रस्ताव विभिन्न सम्मेलनों मे बने और जिन्हें स्वीकृत करके अपनी–अपनी फाइलो मे रख छोडा है। उन प्रस्तावों से जनता का कुछ लाभ

नहीं हुआ और न हो सकेगा। प्रस्ताव वही लाभदायक होते हैं जो ठोस बुनियाद पर स्वीकार किये जाते हैं और कार्यरूप मे परिणत किये जाते हैं। ऐसा होने से ही सघ का श्रेय हो सकता है, उन्नति हो सकती है एव श्रम का पुरस्कार मिल सकता है।

यह सदैव याद रखो– दूसरो को उपदेश और आदेश देना सरल है और वह भी तभी तक, जब तक अपने-आप पर नहीं आन बनती है। मगर जब अपने पर आन बनती है तो उपदेश देने वाले चुप्पी साध लेते हैं। यही नहीं, विरोध करते हैं और जहॉ तक वश चलता है, रुकावटे डालने से भी नहीं चूकते।

यह सदैव याद रखो– अपराध और दोषो का परिहास पश्चात्ताप की कसौटी पर आत्मनिरीक्षण करने से होगा, न कि दूसरो पर अपना वर्चस्व लादने या उनकी अवहेलना करने से।

उपवास स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है

एक बार भारतवर्ष ने उपवास के गुण समस्त ससार को बतलाये थे। आज वही भारतवर्ष दिनोदिन उसके महत्त्व को भूलता जा रहा है।

जैन सिद्धान्त और वैदिक साहित्य भी मुक्तकठ से तप की महिमा का बखान करता है। उपवास इन्द्रियो की रक्षा करने वाला है, धर्मसाधना का सबल साधन है। इन्द्रियो के चाचल्य का निग्रह उपवास से ही होता है।

मनुष्य हमेशा खाता है। सावधानी रखने पर भी कहीं भूल हो जाना अनिवार्य है। प्रकृति भूल का दण्ड देने से कभी नहीं चूकती। किसी और से आप अपने अपराधों की क्षमा करा सकते हैं पर प्रकृति के दण्ड से आप किसी भी प्रकार नहीं बच सकते। अगर आप प्रकृति के किसी कानून को तोडते हैं तो आपको तुरन्त उसका दण्ड भोगने के लिए उद्यत रहना होगा। आप दूसरो की आखो में धूल झोक सकते हैं पर प्रकृति के आगे आपकी एक भी नहीं चलेगी। प्रकृति के कानून अटल–अचल हैं। उनमे तनिक भी हेरफेर नहीं हो सकता।

ऐसी स्थिति मे भोजन मे भूल हुई नहीं कि कोई–न–कोई रोग आ धमकता है। उस रोग के प्रतिकार का सरल और सफल उपाय उपवास ही है। आपने उपवास किया और रोग छूमन्तर हुआ। अगर आपको कोई रोग नहीं है तो भी उपवास करने का अभ्यास लाभदायक ही है।

आप हमेशा भोजन करते हैं। आते उस भोजन को पचाती हैं। आते अविश्रान्त रूप से काम करते–करते थक जाती हैं। अगर बीच मे कभी–कभी उन्हे विश्राम मिल जाया करे तो उनमे नवीन शक्ति आ जाएगी।

अपने नियम के अनुसार प्रकृति जितने मनुष्यो को उत्पन्न करती है, उनके खाने के लिए भी वह पैदा करती है। पर मनुष्य अपनी धींगा–धींगी से, आवश्यकता से अधिक खा जाता है– ठूस–ठूस कर पेट भरता है। इस प्रकार अकेले भारतवर्ष ने 6 करोड मनुष्यो की खुराक को छीन कर उन्हें भूखे मारने का पाप अपने सिर ले लिया है। भारत मे तैंतीस करोड मनुष्य हैं। इनमे से छह करोड को अलग कर सत्ताईस करोड मनुष्य महीने मे छह उपवास करने लगे तो क्या इन छह करोड भूखो को भोजन नहीं मिल सकता ? (अब भारत की जनसख्या लगभग 100 करोड है। –सपादक)

उपवास हिंसा नहीं है

❖ ❖ ❖

कुछ लोग कहते हैं– 'जैनधर्मानुयायी आहार का त्याग करते हें, यह भी हिंसा का एक प्रकार है। आहार का त्याग करना और मरना दोनो समान हैं। आहार के बिना शरीर टिक नहीं सकता। जब भूख लगती है और भोजन नहीं किया जाता तब शरीर का रक्त–मास ही भूख का खाद्य बन जाता है। अतएव आहार का त्याग करना हिंसा है।'

यह विचार भ्रमपूर्ण धारणा का परिणाम है। वास्तविक बात यह है कि जैसे आहार करना शरीर की रक्षा के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार आहार का त्याग करना– उपवास करना भी जीवन–रक्षा के लिये आवश्यक है। आज अनेक स्वास्थ्य–शास्त्री उपवास का महत्त्व समझकर उसे प्राकृतिक चिकित्सा मे प्रधान स्थान देते हैं। उपवास करने से शरीर कृश अवश्य होता

है, परन्तु उस कृशता से शरीर को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुचती। शरीर की कृशता, शरीर के सामर्थ्य के ह्रास का प्रमाण नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति से दूध को सुखाकर उसका एक् पदार्थ बना लिया जाता है और फिर उस पदार्थ का पानी मे मिश्रण करने से फिर दूध तैयार हो जाता है, फिर भी दूध की शक्ति नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार उपवास करने से शरीर सूख जाता है, फिर भी शारीरिक शक्ति नष्ट नहीं होती। इसके विपरीत यदि उपवास विधि–पूर्वक किया जाय और उपवास की समाप्ति के पश्चात शीघ्र आहार की वृद्धि न की जाय तो शरीर की कृशता ही दूर न हो जायेगी वरन् शरीर के रोग भी समूल नष्ट हो जाएगे। यह बात केवल कल्पना के सहारे नहीं कही जा रही है। इसका आधार प्रत्यक्ष अनुभव है। इस बात की सचाई मे जिसे सन्देह हो वह अपने शरीर का वज़न करके एक दिन का उपवास कर डाले। उपवास के दूसरे दिन फिर वजन करके देखे तो प्रतीत होगा कि उपवास से शारीरिक शक्ति को तनिक भी हानि नहीं पहुचती।

अतएव उपवास के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का भ्रम न रहे और वह विधिपूर्वक किया जाय, यह आवश्यक है।

दयां कुर्वन्तु साधवः

❖ ❖ ❖

विचार कर देखा जाये तो ज्ञात होगा कि ससार की स्थिति दयादेवी के अनुग्रह पर ही निर्भर है। ससार मे दयादेवी का राज्य न होगा तो ससार श्मशान के समान भयानक होगा और जीवधारियो का जीवन दुर्लभ बन जायगा। माता अपने पुत्र का, सतान अपने माता–पिता का और एक आदमी दूसरे आदमी का रक्षण नहीं करेगा। परोपकार, पारस्परिक सहकार, क्षमा, सेवा आदि दिव्य भावनाए भूतल से उठ जायेगी।

दया के विषय में 'इस हाथ दे, उस हाथ ले' की कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। अन्तगड सूत्र मे यही कहा है और अन्य शास्त्रो मे भी यही बात कही है कि दयादेवी की शरण ग्रहण करने वाला कभी अपमानित नहीं होगा।

गीता मे यही कहा है कि अत्यन्त अल्प दया धारण करने से भी प्राणी महापाप और महाभय से बच जाता है।

मित्रो ! दया का दर्शन करना हो तो गरीब और दुखी प्राणियों को देखो ! देखो, न केवल नेत्रो से, वरन हृदय से देखो। उनकी विपदा को अपनी ही विपदा समझो और जैसे अपनी विपदा का निवारण करने के लिये चेष्टा करते हो वैसे ही उनकी विपदा के लिये यत्नशील बनो। इस भव्य भावना को जिह्वा से न बोलो, वरन इस भावना मे जो उत्कृष्ट भाव भरे हैं उन्हे हृदय मे स्थान दो। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव रखो और सच्चे मित्र की तरह व्यवहार करो।

अगर आपके अन्त करण मे दया का वास होगा तो आप ऐसे वस्त्र नहीं पहनेगे जिनसे ससार मे बेकारी और गरीबी बढती है। आप ऐसा भोजन नहीं करेगे जिससे आपके भाइयो को भूख से तडफ–तडफ कर मरना पडता है। आप उनकी सहायता करेगे और उन पर एहसान का बोझा नहीं लादेंगे वरन उनका उपकार करके अपने-आपको उपकृत समझेगे।

दान वीरता का कार्य

❖ ❖ ❖

दान, तप और सग्राम– ये तीनो ही कार्य वीरता होने पर होते हैं। जो वीर नहीं वरन् कायर हैं, वे इन तीनों मे से किसी एक को भी नहीं कर सकते। जो पहले ही शत्रुओ के अस्त्राघात से, मृत्यु से और गृह–कुटुम्ब के कष्टमय भविष्य से भय करता है, वह सग्राम मे कदापि स्थिर नहीं रह सकता। शरीर के कष्ट, शीत, ताप और वर्षा के कष्ट सहने ओर सासारिक मोह के त्यागने मे जो वीर नहीं है वह तप नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिसे स्वय अपने ही पेट की चिन्ता है, जिस पर लोभ का पूरा प्रभाव जम गया है, जिसे अपने और अपने स्त्री–पुत्रादि का भविष्य दुखमय होने का भय है, वह दान नहीं कर सकता।

साराश यह कि दान करना वीरता का काम है, कायर लोग दान नहीं कर सकते। जिस प्रकार सग्राम के लिए वीरता चढने पर उसे सिवा शत्रुओ

के आघात का प्रतिकार करने के और कुछ नहीं सूझता– अस्त्र लगने, मृत्यु होने और पीछे से घर के लोगो के रोने आदि की चिन्ता नहीं होती– जिस प्रकार तप के लिए वीरता चढने पर उसे वैराग्य ही सूझता है, वैराग्य से कष्ट, स्त्री–पुत्र–गृह आदि का विद्रोह नहीं सूझता– ठीक इसी प्रकार जिसे दान की वीरता चढती है उसे अपने भविष्य के कष्ट की चिन्ता नहीं होती, न वह किन्हीं और बातो को ही विचारता है।

धन की दान, भोग और नाश– ये तीन गतिया हैं। जो अपने धन को न दान में लगाता है, न भोग मे, उसके धन की तीसरी गति नाश अवश्य होती है।

हे भद्र पुरुषो !

हे भद्रपुरुषो ! तुम जिस प्रकार सासारिक व्यवहार को महत्त्व देते हो, उसी प्रकार आध्यात्मिक और तात्त्विक बात को भी महत्त्व दो। तुम व्यावहारिक कार्यो मे जैसा कौशल प्रदर्शित करते हो, वही आध्यात्मिक कार्यो मे क्यो नहीं दिखलाते ?

वे गृहस्थ धन्य हैं जिनके हृदय मे दया का वास रहता है और दुखी को देखकर अनुकम्पा उत्पन्न होती है, जो यह समझते हैं कि मैं यहॉ केवल उपकार करने के लिए आया हू, मेरा घर तो स्वर्ग मे है।

बढिया खाना और पहिनना एव जीभ का गुलाम बन जाना पुण्यशाली का लक्षण नहीं है। पुण्यवान बनने के लिए जीभ पर अकुश रखना पडता है।

लोग सबेरे दान करके शाम को दान का फल प्राप्त करना चाहते हैं। मगर फल के लिए अधीर हो उठने से पूरा और वास्तविक फल मिलता ही नहीं है। फल की कामना फल–प्राप्ति मे बडी भारी बाधा है।

गरीब की आत्मा मे शुद्ध भावना की जो समृद्धि होती है, वह अमीर की आत्मा मे शायद ही कहीं पाई जाती है। प्राय अमीर की आत्मा दरिद्र होती है और दरिद्र की आत्मा अमीर होती है।

तुम अपनी कृपणता के कारण धन का व्यय नहीं कर सकते पर धन तुम्हारे प्राणो का भी व्यय कर सकता है।

हे दानी ! तू दान के बदले कीर्ति और प्रतिष्ठा खरीदने का विचार मत कर। अगर तेरे अन्त करण मे ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है तो समझ ले कि तेरा दान, दान नहीं है, व्यापार है।

ससार के समस्त झगडो की जड क्या है ? असली जड का पता लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि सबलो द्वारा निर्बलों को सताया जाना ही सब झगडो का मूल है। तू सताये जाने वाले निर्बलो का समर्थ सहायक बनना, यही मेरा उपदेश है और यही मेरा आशीर्वाद है।

बडो के बडप्पन को सौ गुनाह माफ समझे जाते हैं। परन्तु मैं कहता हू कि ससार मे अधिक दोष बडे कहलाने वालो ने ही फैलाये हैं।

बड़प्पन की जिम्मेदारी

लोग बडे बनना चाहते हैं। छोटा होना कोई पसद नहीं करता। वे यह नहीं देखते कि बडे का बडप्पन किस पर टिका है ? बडे का बडप्पन छोटे के छुटपन पर टिका है या बडा आप ही बडा बन गया है ? एक पर एक लगाने से ग्यारह हो जाते हैं अर्थात् दस गुनी वृद्धि हो जाती हे। अब अगर पहला एक अकेला ही रहना चाहे और दूसरे एक को न रहने दे तो वह एक ही रह जाएगा। उसकी दस गुनी वृद्धि नष्ट हो जाएगी। इसी प्रकार जो बडा बनकर छोटे को नष्ट कर देना चाहता है-- छोटे को भुला डालना चाहता हे, उसका बडप्पन कायम नहीं रह सकता। उसकी शक्ति का ह्रास हुए बिना रह नहीं सकता। इससे विषमता भी फैलेगी, सघर्ष भी होगा, अशाति की आग भी भडक उठेगी और दु ख का दावानल भी सुलग उठेगा। अगर बडे और छोटे, एक–दूसरे की सुख–सुविधा का खयाल रखकर चलेगे तो आनन्द होगा और विषमता का विष नहीं व्यापेगा। एक ओर एक ग्यारह तभी होते हें जब दोनो समश्रेणी मे हो। अगर दोनो मे ऊचाई–नीचाई हो तो उनका योग ग्यारह होगा ? इसी प्रकार मानव–समाज मे से जब ऊच–नीच का भेद मिटेगा, सब समान रूप से मिलकर रहेगे तभी समाज की शक्ति बढेगी। इसी मे सबकी शोभा है।

सारांश यह है कि जो बडा बनता है वह छोटो की सुख–सुविधा का पहले विचार करता है और उनकी रक्षा के लिये जिम्मेवार बनता है। असल मे बडा वही है जो छोटो की रक्षा के लिये ही अपने बडपन का उपयोग करता है और उनकी रक्षा मे ही अपने बडप्पन की सार्थकता समझता है। जो छोटो की रक्षा के लिये अपने बडत्र्प्पन का बिना किसी हिचकिचाहट के त्याग नहीं कर सकता वह बडा नहीं कहा जा सकता। बडप्पन छोटों के प्रति एक प्रकार का बडा उत्तरदायित्व है जो स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है। बडप्पन सुख–सुविधा के उपयोग में नहीं, उसके त्याग मे है। छोटों को गिराने मे नहीं, उठाने मे है।

सुख पाना है तो त्याग करो

❖ ❖ ❖

गेद–दडा के खेल मे गेद एक होती है, खेल खेलने वाले बहुत होते हैं। जिसके पास गेद जाती है वह दूसरे के पास उसे धकेलता हैं ऐसा करने से ही खेल का रग जमता है। एक ही व्यक्ति गेद को पकड कर बैठ जाय तो खेल का मजा नहीं आ सकता। इसके सिवाय क्या दूसरे खिलाडी उसे ऐसा करने देगे ? नहीं। वे उससे बलपूर्वक गेद छीन लेगे।

इसी प्रकार सम्पत्ति के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। तुम्हारे पास जो सम्पत्ति है वह तुम कहा से लाये हो ? वह आकाश से तुम्हारे आगन मे नहीं टपक पडी है। तुमने उसे कहीं से एकत्र किया है, फिर भी दुःखी और निर्धनो की तरफ तुम्हारा ध्यान कभी जाता है ? अगर नहीं जाता तो यही कहना चाहए कि तुम अकेले ही गेद पकडे रखना चाहते हो। सम्पत्ति की जो शक्ति तुम्हे प्राप्त हुई है वह अगर दूसरो को देते रहोगे तो वह उसी प्रकार लौट आवेगी जैसे खिलाडियो द्वारा गेद लौट आती है अगर तुम उसे पकड कर, दबाकर बैठ जाओगे तो उसी प्रकार छीन ली जायगी जैसे दूसरे खिलाडियो द्वारा गेद छीन ली जाती है। रूस मे क्या हुआ था ? लोगो ने सम्पत्ति अपनी मान ली थी और उसे दबाकर बैठ गये थे। गरीबों की तरफ उनका ध्यान नहीं था। जब लोग बहुत अधिक दुखी हो गये तो विद्रोह को चिनगारिया प्रज्वलित

हो उठीं। अन्त मे पूजीवाद का अन्त हुआ। इस इतिहास से शिक्षा ग्रहण करो। धर्म का भी यही आदेश है कि पूजी को पकडे मत बैठे रहो। ऐसा करने से इस लोक में भी दुख मिलेगा और परलोक मे भी।

संग्रह की भावना सन्ताप की पोषक

कनक और कामिनी की लोलुपता ने ससार को नरक बना डाला है। आजकल मुद्रादेवी ने– सोने, चादी और ताबे आदि के सिक्कों ने कितनी अशाति फैला रखी है। तुम लोग रात-दिन पैसे के लिये दौड–धूप करते रहते हो, मगर पैसे का सग्रह करके भी सुख की सास नहीं ले सकते। पैसे के लिये आपस मे लडाई–झगडे होते हैं, हजारो मनुष्यो का खून बहाया जाता है। इसका बाहरी कारण कुछ भी बताया जाये, पर असली कारण तो द्रव्य के सग्रह की भावना ही है। इतिहास स्पष्ट बतला रहा है कि जब से मानव समाज मे सग्रहपरायणता जागी है तब से ससार की दयनीय दशा प्रारम्भ हुई है।

मैं अपने बचपन की बात कहता हू। उस समय लोग अन्न आदि कोई वस्तु देकर शाक–भाजी या और कोई आवश्यक वस्तु खरीदते थे। उस समय वस्तुओ का विनिमय होता था– वह वास्तविक विनिमय था। सिक्का तो तब भी था पर आज की भाति उसका अधिक प्रचलन नहीं था। इस कारण अधिक अशाति भी नहीं थी। सिक्के की वृद्धि के साथ अशाति की वृद्धि हुई है। सिक्का सग्रह करने की मनोवृत्ति ने अशाति का पोषण किया है।

धन व्यावहारिक कार्यों का एक साधन है। धन से व्यवहारोपयोगी वस्तुए प्राप्त की जा सकती हैं। पर आज तो लोगो ने इस साधन को साध्य समझ लिया है और वे इसकी प्राप्ति मे सारा जीवन व्यय कर रहे हैं। तुम इस बात का विचार करो कि धन तुम्हारे लिये है या तुम धन के लिये हो ? कहने को तुम कह दोगे कि हम धन के लिये नहीं हैं। धन हमारे लिये है। पर क्या व्यवहार में भी यही बात है ?

धन के ट्रस्टी बनो

आप लोगो के पास जो द्रव्य है उसे अगर परोपकार में, सार्वजनिक हित में और दीन–दुखियों को साता पहुचाने में न लगाया तो याद रखना, इसका ब्याज चुकाना भी तुम्हे कठिन हो जायगा। ऐसे द्रव्य के स्वामी बन कर आप फूले न समाते होगे कि चलो हमारा द्रव्य बढा है, मगर शास्त्र कहता है और अनुभव उसका समर्थन करता है कि द्रव्य के साथ क्लेश बढा है। जब आप बैंक से ऋण रूप मे रुपया लेते हैं तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती है ? उतनी ही चिन्ता पुण्यरूपी बैंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यों नहीं करते ? समझ रक्खो, यह सपत्ति तुम्हारी नहीं है। इसे परोपकार के अर्थ अर्पण कर दो। याद रखो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे पास धरोहर है। अगर इसे अपने पास रख छोडूगा तो यह तो यहीं रह जायगी, लेकिन इसका बदला चुकाना मेरे लिए बहुत भारी पड़ जायगा।

अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टी–भर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जायगा ? हा उस अवस्था में अपने भोग–विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे। लेकिन बहुत लोगो की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नहीं होती। क्या श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन के कीचड़ मे फसा रहे और उससे अपनी आत्मा को मलिन बना डाले ? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नहीं है ? बैंक पर विश्वास करके उसमें लाखों रुपया जमा करा देने वालों को धर्मरूपी बैंक पर क्या विश्वास नहीं है ?

तुम धन का त्याग न करोगे तो धन तुम्हारा त्याग कर देगा। यह सत्य इतना स्पष्ट और ध्रुव है कि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे विवेकवान् होते हुए भी इतने पामर क्यों बने जा रहे हो ? तुम्हीं त्याग की पहल क्यो नहीं करते ? क्यो स्वत्व के धागे को तोडकर फेंक नहीं देते ?

स्वत्व का त्याग कर देना ही द्रव्ययज्ञ है। अपने पास जो है उसे 'इदम् न मम' कहकर परोपकार के निमित्त अर्पित कर दो और अपने–आपको सिर्फ उसका ट्रस्टी समझो।

चाहते सभी हैं लेकिन.....

❖ ❖ ❖

ससार का कोई भी प्राणी आशा से अतीत नहीं है– सभी को आशा लगी हुई है, सभी को भाँति–भाँति की चिन्ताए सता रही हैं। सभी सुख के अभिलाषी हैं और सभी आरोग्य चाहते हैं। ये सब आकॉक्षाए प्राणीमात्र मे समान हैं। यह बात दूसरी है कि अज्ञान के बस होकर प्राणी अपने दु ख और दु ख के मूल को ठीक तरह न समझा हो या विपरीत समझता हो, लेकिन दु ख से छुटकारा सभी चाहते हैं।

दु ख से मुक्ति चाहने पर भी जब तक दु ख का वास्तविक स्वरूप और दु ख के असली कारणो को न समझ लिया जाय तब तक जीवन की चाह पूरी नहीं हो सकती। दु ख सम्बन्धी अज्ञान के कारण प्राणी सुख की अभिलाषा से ऐसा उपाय करता है कि सुख पाने के बदले उलटे दु ख का ही भागी बनता है। ससारी जीवो को जो दु ख है उसका प्रधान कारण पर–सयोग है। जहा पर–पदार्थ का सयोग हुआ और उसमे अहभाव या ममभाव धारण किया कि दु ख की उत्पत्ति होती है। उस दु ख को मिटाने के लिये जीव फिर नवीन पदार्थो का सयोग चाहता है और परिणाम यह होता है कि वह दु ख बढता ही चला जाता है। इस प्रकार ज्यों–ज्यो दवा की जाती है, त्यो–त्यो बीमारी बढती ही जाती है। जब उपाय ही उलटा है तो नतीजा उलटा क्यो नहीं होगा ? कठिनाई तो यह है कि हम परमात्मा से जो प्रार्थना करते हैं उसका आशय तो है दु ख दूर करने का, मगर हमारा भ्रम ऐसा है कि हम दु ख के कारणो को ही दु ख दूर करने का कारण समझ बैठते हैं। इसी भाव से हम प्रार्थना करते हैं। किसी को निर्धनता का दु ख है, तो किसी को सतान के अभाव का दु ख है, किसी को अपने अपयश की चिन्ता है। इस दु ख को मिटाने के लिए धन चाहिये, सतान चाहिये और यश चाहिये। अज्ञानी पुरुष की धारणा है कि इन वस्तुओ का सयोग होने से ही हमारे दु ख के अकुर सूख जायेगे और हम सुखी हो जायेंगे, मगर वास्तविक बात ऐसी नहीं है। ससार के ये सब पर–पदार्थ हमारे दु ख नाश नहीं कर सकते। इनमें दु खदलिनी शक्ति नहीं है। यही नहीं, वल्कि वास्तव मे ये ही दु ख के कारण हैं। ज्ञानी पुरुष अपनी सम्यग्दृष्टि से इनका सत्य स्वरूप समझते हैं। उन्होने जाना है कि वाह्य पदार्थो के साथ जितने अशो मे आत्मीयता का सम्वन्ध स्थापित किया जायगा उतनी ही दु ख की वृद्धि होगी।

जब तुम्हारी दृष्टि निर्मल हो जायगी और तुम्हे सत्य वस्तुत्व का प्रतिभास होने लगेगा, तब तुम अपने ऊपर हसे बिना न रहोगे कि वाह ! मुझे परमात्मा की प्रार्थना द्वारा दु ख नाश करना था, मगर मैं चाहता था दु ख के कारण ! मैं रोग मिटाने के लिये रोग बढाने वाली औषध का सेवन कर रहा था ! और जब रोग बढता जाता था तो अपने अज्ञान के बदले औषध को कोसता था ! मेरी समझ कैसी सुन्दर थी !

......बंधुता पैदा नहीं की

ससार मे अनेक प्रकार की क्रातिया हुई हैं और हो रही हैं। किसी ने क्राति के द्वारा साम्य पैदा किया है किसी ने स्वतन्त्रता प्राप्त की है। लेकिन क्राति द्वारा बन्धुता किसी ने पैदा नहीं की। बन्धुता पैदा करने का काम भारतवर्ष के हिस्से मे आया है। यद्यपि यह बात सर्वसाधारण को समझाने की आवश्यकता है, फिर भी अगर गभीरता से विचार किया जाय तो मालूम होता है कि जैन धर्म का अन्तिम उद्देश्य, प्रधान सिद्धान्त बन्धुता प्रकट करना है। जैन धर्म मे जिस आचारप्रणालिका का प्रतिपादन किया गया है, उसके अन्तरग की परीक्षा करने से यह बात निर्विवाद हो जाती है। वास्तव मे जैन धर्म बन्धुता की शिक्षा देने और उसका प्रचार करने के लिए है।

ससार के सभी मनुष्य समान होकर रहे, इस प्रकार का साम्यवाद कभी समस्त ससार मे फैल सकता है, लेकिन उस समानता के भीतर जब तक बन्धुता न होगी तब तक उसकी नींव बालू पर खडी हुई ही समझना चाहिये। वायु के एक झकोरे से ही साम्यवाद की नींव हिल जायगी और उसके आधार पर निर्मित की हुई इमारत धूल मे मिल जायगी। साम्य के सिद्धात को अगर सजीव बनाया जा सकता है तो केवल उसमें बन्धुता की भावना का सम्मिश्रण करके ही। यही नहीं, बन्धुताहीन साम्यवाद विनाश का कारण बन जाता है। जो कोरा साम्यवाद अपनाने जायगा ओर बन्धुता को उससे पहले ही नहीं अपना लेगा, वह अशान्ति का बीजारोपण ही करेगा।

बन्धुता किसी ज्ञानी के भाव से ही प्रकट हो सकती है। ज्ञानीजन कहते हैं कि सुख, दु ख या दबाव से किसी काम को मत करो, किन्तु प्रत्येक कार्य

के लिए अपनी आध्यात्मिक शक्ति प्रकट करो। आध्यात्मिक शक्ति मे इतना सामर्थ्य और चमत्कार है कि वह दूसरो पर अपना प्रभाव डालकर उन्हे तुरन्त अपने वश मे कर लेगी।

तात्पर्य यह है कि जगत मे शाति स्थापित करने के लिए साम्य की आवश्यकता तो है, मगर बन्धुता के बिना शान्ति–स्थापना का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। साम्य की स्थापना करते समय यदि बन्धुता की प्रतिष्ठा नहीं की गई तो मार-काट और अशान्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

बन्धुता का सिद्धान्त समस्त ससार मे आदर्श माना जाता है। मानव समाज ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध व्यवहार करके जो बुरे परिणाम भुगते हैं और आजकल भी भुगत रहा है, उसने बन्धुता की भावना की आवश्यकता सिद्ध कर दी है और अब प्रत्येक राष्ट्र उसे प्राप्त करने मे गौरव समझता है, भले ही वह उसे प्राप्त करने मे अपनी लाचारी अनुभव करता हो।

उद्योग किये जाओ !

❖ ❖ ❖

अधिकाश लोग परमात्मा का नाम इसलिये लेते हैं कि उन्हें उद्योग किये बिना ही धन मिल जाय। आलस्य में पडे रहने पर भी धन मिल जाय तो वे समझते हैं कि भगवान बडे दयालु हैं। लेकिन जब उद्योग करना पडता है तो भगवान को भूल जाते हैं। मगर याद रखो, भगवान कायरो का साथ नहीं देते। उद्योगी ही उनकी सहायता से सिद्धि प्राप्त करते हैं।

सच्चा पुरुषार्थी कभी हार नहीं मानता। वह अगर असफल भी होता है तो उसकी असफलता ही उसे सफलता प्राप्त करने की प्रेरणा देती है। इसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य न तो अपनी असमर्थता का रोना रोता है और न कार्य की असभवनीयता का ही विचार करता है। वह अपनी थोडी–सी शक्ति को भी समग्रता के साथ प्रयुक्त करता है और कार्य की सिद्धि कर लेता है।

मार्ग कितना ही लम्बा क्यों न हो, अगर धीरे–धीरे भी उसी दिशा मे चला जायगा तो एक दिन वह तय हो जायगा, क्योकि काल भी अनन्त है और आत्मा की शक्ति भी अनन्त है। इस दृढ श्रद्धा के साथ जो भगवान के मार्ग पर चलेगा और निराश न होकर चलता ही जाएगा, उसे अवश्य कल्याण की प्राप्ति होगी।

दुःख के क्षणों का महत्त्व समझो

मनुष्य व्यर्थ ही दु ख–दु ख चिल्लाया करता है। व्यर्थ ही दु ख की चिन्ता करता है। वास्तव मे अभी तो मनुष्य को कुछ भी दु ख नहीं है। नरक के जीवो की तरफ देखने पर– उनके दु ख से अपने दु ख की तुलना करने पर मालूम होगा कि हम मनुष्य कितने सुखी हैं। अतएव मनुष्य को दु ख से नहीं घबराना चाहिये, वरन् यह सोचना चाहिये कि परमात्मा की प्रार्थना करके नारकी जीव भी सुखी हो सकते हैं तो हम सुखी बनने का प्रयास क्यो न करे ? हम नारकी जीवो से गये–बीते क्यो रहे ?

अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करोगे तो मालूम होगा कि जगत् की प्रचलित व्यवस्था मे दु ख का ही प्रधान स्थान है। दु ख ससार का व्यवस्थापक है। भूख का दु ख न होता तो खेती कौन करता ? लज्जा जाने का दु ख न होता तो वस्त्र कौन पहनता और कौन बनाता ? शीत, ताप और वर्षा का दु ख न होता तो मकान बनाने की क्या आवश्यकता पडती। गरमी से पैर न जलते या काटा लगने से कष्ट न होता, तो जूता कौन पहनता ? इस प्रकार देखोगे तो प्रतीत होगा कि दु खरूपी विशाल मशीन मे ही ससार की सारी व्यवस्था ढली है। कहावत है– आवश्यकता आविष्कार की जननी है। राजा का आविष्कार भी आवश्यकता ने ही किया है। दु खो से बचने के लिए राजा बनाया गया है।

दु ख न होता तो ससार की मशीन ही अस्त–व्यस्त हो जाती। इतना ही नहीं, दु ख मनुष्य को महान्, बलवान और तेजस्वी बनाता है। ससार के इतिहास मे जिन विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पुरुषो के नामो का उल्लेख आता है, उनके जीवनचरित्र पर एक सरसरी निगाह डालिये। आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि उनकी जो महत्ता है, उसका सारा रहस्य दु ख सहन करने की उनकी क्षमता मे है। उन्होने दु खो से जूझकर ही महत्ता प्राप्त की है। सुख के ससार मे विलास के कीडे उत्पन्न होते हैं और दु ख की दुनिया मे दिव्यशक्तिसम्पन्न पुरुषो का जन्म होता है। वनवास के घोर दु ख सह कर ही रामचन्द्र ने मर्यादा पुरुषोत्तम का पद प्राप्त किया, विविध प्रकार की दुस्सह वेदनाए झेलकर ही त्रिशलानन्दन, भगवान् महावीर कहलाये। हसते–हसते प्राण देकर ईसा, ईसाइयो के आराध्य बने। ससारक्षेत्र मे भी यही बात देखी जाती है। जगल–जगल भटक कर ही राणा प्रताप इतिहास मे अमर हो सके, और अगरेजो की लाते, घूसे तथा कारागार के कष्ट सहने के पश्चात् मोहनदास गाधी 'महात्मा' पद के उत्तराधिकारी हुए हैं। इन्हे तथा अन्य

साधारण पुरुषो को दु ख ने जो महत्ता प्रदान की, वह कोई नहीं दे सका। दु ख के साथ सघर्ष करते—करते आत्मा मे एक प्रकार की तेजस्विता का प्रादुर्भाव होता है। अन्त करण मे दृढता आती है। हृदय मे बल आता हे और तबीयत मे मस्ती आती है। दु खो को सहन करने मे विजय का मधुर स्वाद आता है, जिसका अनुभव सबको नहीं होता। अतएव दु ख हमारे शत्रु नहीं मित्र हैं। शत्रु वह मानसिक वृत्ति है जो आत्मा को दु खो के सामने कायर बनाती है और दु खो से दूर भागने के लिए प्रेरित करती है। सत्यशाली पुरुष दु खो से बचने की प्रार्थना नहीं करता, वरन् दु खो पर विजय प्राप्त करने योग्य बल की प्रार्थना करता है।

गौ की उपेक्षा मत करो

आज लोगो को गौरक्षा के प्रति उपेक्षा हो गई है। इसी कारण ऋद्धि—सिद्धि देने वाली गौ भाररूप प्रतीत होती है। गौधन पर जितना सकट इस समय आ पडा है उतना पहले कभी नहीं आया था।

शास्त्र मे लिखा है कि प्राचीन काल मे एक करोड मोहरो का स्वामी एक गोकुल अर्थात् दस हजार गायो का पालन करता था। जिसके पास जितने करोड स्वर्ण—मोहरे होती, वह उतने ही गोकुल रखता था। जिस समय भारत मे गौओ का ऐसा मान था, उस समय का भारत वैभवशाली क्यो न होता ? गौ ऋद्धि—सिद्धि देने वाली मानी गई है। जहॉ ऋद्धि—सिद्धि देने वाली हो वहा वैभव की क्या कमी ?

जैन शास्त्रो मे गौ को बहुत ऊचा स्थान दिया गया है। वेदो और पुराणो मे भी गौ का अत्यधिक सम्मान पाया जाता है। ब्राह्मण लोग गायत्री मत्र का जाप गोमुखी मे हाथ डालकर करते हैं। पर इन सब बातो का रहस्य जानने वाले कितने मिलेगे ?

प्राचीन ग्रन्थो मे गाय की महत्ता का खूब बखान किया गया है। गाय 'गो' कहलाती है। 'गौ' पृथ्वी का भी नाम है। इसका तात्पर्य यह हे कि जैसे पृथ्वी हमारा आधार है उसी प्रकार गाय भी हमारे जीवन का आधार है। आज गाय का आदर नहीं हो रहा हे, पर प्राचीनकाल के राजा ओर सेठ अपने घर मे गायो के झुण्ड—के—झुण्ड रखते थे। उस समय शायद ही ऐसा कोई घर रहा

होगा, जहां गाय न पाली जाती हो। उसी युग मे गाय गौमाता कहलाती थी और 'जयगोपाल' की ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती थी– अर्थात् गाय पालने वाले की जय बोली जाती थी। मगर आज परम्परा का पालन करने के लिए गाय को कोई माता भले ही कह दे, पर उसका पालन विपत्ति से कम नहीं समझा जाता।

प्रत्येक हिन्दू गौ को 'गौमाता' के नाम से पुकारता है और उसे श्रद्धाभाव से देखता है। फिर भी उसकी पालना जैसी चाहिए वैसी नहीं हो रही है। मानव–समाज पर गाय के अपरिमित उपकार हैं। उसके उपकारो के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए, उसे 'गौमाता' सज्ञा दी गई है। इस सज्ञा को सार्थक बनाने के लिए, उसके प्रति आज जो उपेक्षा दिखाई जा रही है उसका दूर होना आवश्यक है।

संरक्षक बनो

मित्रो ! अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टीभर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जायगा ? हा, उस अवस्था मे अपने भोग–विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे। लेकिन बहुत लोगो की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नहीं होती। क्या श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन के कीचड मे फसा रहे और उससे आत्मा को मलिन बना डाले ? उसे परोपकार मे न लगावे ? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नहीं है ? बैंक पर विश्वास करके उसमे लाखो रुपया जमा करा देने वालो को धर्मरूपी बैंक पर क्या विश्वास नहीं है ?

मित्रो ! आप लोगो के पास जो द्रव्य है उसे अगर परोपकार मे, सार्वजनिक हित मे और दीन–दुखियो को साता पहुचाने मे न लगाया तो याद रखना, इसका ब्याज चुकाना भी तुम्हे कठिन हो जायगा। ऐसे द्रव्य के स्वामी बनकर आप फूले न समाते होगे कि चलो हमारा द्रव्य बढ गया है, मगर शास्त्र कहता है और अनुभव उसका समर्थन करता है कि द्रव्य के साथ क्लेश बढा है। जब आप बैंक से ऋण रूप में रुपया लेते हैं तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती है ? उतनी ही चिन्ता पुण्यरूपी बैंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यो नहीं करते ? समझ रक्खो, यह सम्पत्ति तुम्हारी नहीं है। इसे परोपकार के अर्थ अर्पण कर दो। याद रक्खो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे

पास धरोहर है। अगर इसे अपने पास रख छोड़ूगा तो यह तो यहीं रह जायगी, लेकिन इसका बदला चुकाना मेरे लिए बहुत भारी पड जायगा।

धन के सद्व्यय के लिए हृदय मे उदारता चाहिये। जहा हृदय मे उदारता नहीं वहा धन का सद्व्यय नहीं हो सकता। धन के प्रति हृदय मे ममता रहती है, उसका त्याग करने मे ही आत्मा का कल्याण है।

धन को साधन मानकर, उसके प्रति निर्मम बनना, उसे आत्मा को न ग्रसने देना, इतनी महत्त्व की बात है कि उसके बिना जीवन का अभ्युदय सिद्ध नहीं हो सकता।

अनिर्वचनीय-अनन्त सुख

आनन्द आत्मा का ही गुण है। उसे पर--पदार्थों के सयोग मे खोजने का प्रयास करना भ्रम है। सत्य तो यह है कि जितने अशो मे पर का सयोग होगा उतने अशो मे सुख की न्यूनता होगी। आत्मा जब समस्त सयोगो से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाती है तभी उसमें स्वाभाविक पूर्ण सुख का आविर्भाव होता है। यह स्वाभाविक सुख ही सच्चा सुख है। पर के निमित्त से होने वाला सुख, सुखाभास है– सुख का मिथ्या सवेदन है।

कदाचित् तीव्र पुण्य के उदय से कोई विघ्न उपस्थित न हो तो भी विषय–सुख सदा विद्यमान नहीं रह सकता। क्योकि यह सुख विषयों के सयोग से उत्पन्न होता है और 'सयोगा हि वियोगान्ता' सयोग का फल निश्चित रूप से वियोग ही है।

इस विषय–सुख मे एक बात और है। बिना आरभ–परिग्रह के यह सुख हो ही नहीं सकता और आरम्भ–परिग्रह पाप का कारण है। पाप दु ख का कारण है। अतएव यह सुख, दु ख का कारण है।

मधु से लिप्त तलवार की धार चाटने से जो सुख होता है और उस सुख के फलस्वरूप जितना दु ख होता है उतना ही दु ख विषयजन्य सुख भोगने से होता हैं अतएव ज्ञानी–जन इस सुख को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका मन इस ओर कभी आकृष्ट नहीं होता। वे अन्तरात्मा के अनिर्वचनीय, असीम, अनन्त और अव्याबाध सुख की खोज में लगे रहते हैं। वही सुख सच्चा सुख है। उसमे दु ख का स्पर्श नहीं होता। यही आत्मा का स्वरूप है और 'आनन्द' शब्द से यहा उसी का ग्रहण किया गया है।

महावीर ने कहा

महावीर ने दृढता से आह्वान किया–

पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खापमोक्खसि।

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयों (काम–वासनाओ) की ओर जाने से रोको, क्योकि इसी से तुम दु ख से मुक्ति पा सकोगे।

जैन दर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है। परिग्रह के ममत्व को काटकर सग्रहवृत्ति का जब त्याग किया जाएगा, तभी कोई पूर्ण अहिंसक और पूर्ण स्वाधीन बन सकता हे। स्वाधीनता ही आत्मा का स्वधर्म अथवा निजी स्वरूप है। मोह, मिथ्यात्व एव अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा अपने मूल स्वभाव को विस्मृत कर देती है और इसीलिए वह दासता की शृंखलाओ मे जकड जाती है।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बता कर विश्व में फैली बड़े–छोटे, छूत–अछूत, धनी–निर्धन आदि की विषमता एव भौतिक शक्तियों के मिथ्याभिमान को दूर हटाकर सबको समानता के अधिकार बताये। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभवो की गूज बराबर बनी रही है।

महावीर ने जो कहा, पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी मे कर्मठता का ओज व भावना का उद्रेक दोनो हैं। हिंसा के नग्न ताडव से संतप्त एव शोषण व अत्याचार से उत्पीडित जनता को दुखो से मुक्त करने के लिए अहिंसा की क्रातिकारी तथा सुखकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर–पिशाचों को प्रेम, सहानुभूति, शान्ति एव सत्याग्रह के द्वारा उन्होने स्वाधीनता का दिव्यपथ प्रदर्शित किया।

जिन्हे अपनी आत्मा का गौरव होगा, वे कभी उसे पतित नहीं होने देंगे, चाहे कितनी ही विवशतापूर्ण परिस्थितिया उनके सामने आकर खडी हो जाये। अपनी आत्मा का गौरव बनाइये, उसे निभाइये और अपने साथियों के

गौरव की रक्षा कीजिये। व्यक्ति से लेकर समूह तक के जीवन-विकास की यही कहानी है।

प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेगे।

गौरवं प्राप्यते दानात्

जीवन का गौरव प्रदान करने मे है, न कि ग्रहण करके एकत्र कर लेने में। वास्तव मे इस प्रदान करने को, दान कहिये या त्याग, जीवन के विकास का प्रधान कारण समझना चाहिए। प्रकृति के स्वाभाविक वातावरण मे ही इस सत्य का स्पष्टत दर्शन किया जा सकता है–

गौरवं प्राप्यते दानान्नतु वित्तस्य सचयात्।
स्थितिरुच्चै पयोदाना पायोधिनामध स्थिति।

आज के सामाजिक जीवन का भी यही सत्य है। दान हृदय की उदार विशालता को अधिकतम क्षेत्र मे प्रसारित करता है। सचयवृत्ति हृदय को अत्यधिक सकुचित बनाती हुई उसे घृणित रूप दे देती है।

अत जीवन-विकास के क्षेत्र मे दान अत्यावश्यक है। जो दान देकर उसके बदले की आशा लगाये रहता है वह एक दृष्टि से वास्तव मे दान नहीं करता है बल्कि एक तरह का सौदा करता है। दान के शुद्ध दृष्टिकोण से अर्पित की जाने वाली धनराशि ही सच्चा जन–कल्याण कर सकती है।

अन्त मे यही कहना चाहूगा कि त्याग और दान ही जीवन के विकासक हैं। दान सरल भी है यदि हृदय मे सच्ची भावना व उदारता है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास से दान-हित कुछ–न–कुछ निकाल सकता है। मोक्ष के चार उपाय– दान, शील, तप व भावना बताये हैं। उनमे भी दान को सर्वप्रथम कहा गया है। अत यदि आप जीवन मे प्रगति चाहते हैं तो अपनी शक्ति गिरे हुए को उठाने मे और दुखियो का दर्द दूर करने मे लगावे।

आत्मदर्शन का साधन

देह और आत्मा का अभेद समझने की मूढ दृष्टि जब तक विद्यमान रहती है तब तक बहिरात्म दशा बनी रहती है। सर्वप्रथम आत्मा के पृथक् अस्तित्व को समझना आवश्यक है। अन्तरात्मा बनने के लिए आपको मानना चाहिए कि देह अलग है और मैं अलग हू। देह के नाश मे मेरा नाश नहीं है। मैं अविनाशी हू, अनन्त हू, अक्षय हू, अनन्त आनन्द और चैतन्य का आगार हू।

अन्तरात्म दशा प्राप्त होने पर जीव के विचार और व्यवहार मे बडा अन्तर आ जाता है। यह नाशशील दु ख के बीज और आत्मा को मलिन बनाने वाले सासारिक सुख की अभिलाषा नहीं करता। अन्तरात्मा जीव का विवेक जब परिपक्व होता है तो इसे सासारिक सुख से अरुचि हो जाती है। तब आत्मा अपने ही स्वरूप मे रमण करने लगती है। उस अवस्था को इन शब्दो में व्यक्त कर सकते हैं–

वह परम आत्मा अनन्त सुख से सम्पन्न, ज्ञानरूपी अमृत का स्रोत, अनन्तशक्ति से समन्वित है। उसमे किसी प्रकार का विकार नहीं है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं है, वह समस्त परपदार्थो के ससर्ग से रहित है और विशुद्ध चैतन्य स्वरूपी है। आत्मा का समर्पण करने से आत्मा की उपलब्धि होती है, उसका स्वरूप अधिकाधिक निर्मल रूप से समझ मे आने लगता है।

महावीर–सन्देश

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयो (काम–वासनाओ) की ओर जाने से रोको, क्योंकि इसी से तुम दु ख से मुक्ति पा सकोगे।

समस्त जैन दर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है।

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है– सपूर्ण भौतिक पदार्थो एव भौतिक जगत से सम्बन्ध विच्छेद करना। अतिम श्रेणी मे शरीर भी उसके

लिये एक बेडी है, क्योकि वह अन्य आत्माओ के साथ एकत्त्व प्राप्त कराने मे बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिये अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन को ही अपना मानता है, सबके सुख–दु ख मे ही स्वय के सुख–दु ख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना मे निज की चेतना को सजो देता है। एक शब्द मे कहा जा सकता है कि वह अपनी व्यष्टि को समष्टि मे विलीन कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारो के लिये रोता नहीं, वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यो के कठोर पथ पर कदम बढाता हुआ चलता जाता है। जैसा कि गीता मे भी कहा गया है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

फल की कामना से कोई कार्य मत करो। अपना कर्तव्य जानकर करो, तब उस निष्काम कर्म में एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूर्ण समाज पर विशुद्ध एव स्वस्थ प्रभाव पड सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरो के हृदय मे विश्वास पैदा नहीं करता। स्वार्थ छोडने से परमार्थ की भावना पैदा होती है, और तभी आत्मिक भाव जागता है।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बताकर विषमता एव भौतिक शक्तियो के मिथ्याभिमान को दूर हटा कर सबको समानता के अधिकार बताये। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभवों की गूज बराबर बनी है।

आत्मा से विश्वासघात न करो

मानव जीवन की भौतिक शक्तियो के पा लेने मे विशेषता नहीं है, पाकर उन्हे निस्पृह भाव से त्याग देने मे उसकी परम विशेषता रही है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है–

जे य कंते पिये भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, से दु चाई त्ति वुच्चई।।

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थो को प्राप्त करके भी उन्हें आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धन–सग्रह जहाँ दु ख–क्लेश का मूल हे, वहा उसी धन का निस्पृह भाव से त्याग करने

मे महान आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धात से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल मे अपने-आपको फसाकर मानव जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दो मे "तिल की खल को पकाने के लिये अमूल्य रत्नो के पात्र का उपयोग करने वाले, ओक की खेती के लिये स्वर्ण हल से धरती को खोदने वाले और कोदरे अन्न के लिये कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने-आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी सयोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर ध्यान न देकर धनलिप्सा व मिथ्या व्यामोहों में फस जाना अपनी ही आत्मा के साथ भीषण विश्वासघात करना और मानव–जीवन की अनुपम विशिष्टता को व्यर्थ ही मे खो देना है।

दुराग्रह को दूर करो

❖ ❖ ❖

मानव जीवन में अनेक प्रकार की दुर्बलताए देखी जा सकती हैं। प्रथम तो मनुष्य का अपने विचारो के प्रति स्वभावत एक विशिष्ट आकर्षण या मोह होता है। उसके कारण वह सत्य का साक्षात्कार करके भी यकायक अपने विचार या मतव्य में परिवर्तन नहीं कर पाता। दूसरी दुर्बलता है परम्परा के प्रति अन्धश्रद्धा। जब मनुष्य अपने विचार या मन्तव्य को असमीचीन समझ लेता है, तब भी परम्परा से आया हुआ होने के कारण उस विचार को छोड नहीं पाता।

आज अधिकाश जनता इसी प्रकार के दुर्बल विचारों की शिकार हो रही है। जानते हैं कि अमुक रूढि हानिकर है, वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल नहीं है और उसके चालू रहने से समाज के बहुत लोगों को कष्ट उठाना पड़ता है, फिर भी उसे त्यागने का साहस नहीं होता है। क्योकि वह पुरखाओ के जमाने से चली आ रही है। इस प्रकार के लोग अपने विवेक का अपमान करते हैं। विवेक न होगा तो साधन मिलने पर भी कार्य अच्छा न होगा।

इस तथ्य को सामने रखकर विचार करें।

समता : लक्ष्यप्राप्ति का साधन

❖ ❖ ❖

यह निश्चय है कि जब तक सासारिक क्षेत्र मे ही एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नहीं होगी, समाज मे परस्पर व्यहार की रीति–नीति समान व सम्यक् नहीं बनेगी तो निवृत्ति के मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति भी साधारण रूप से पैदा नहीं हो सकेगी। इसलिये समाज मे सम्मान और सम्यक् वातावरण पैदा हो तथा सामाजिकता की भावना का प्रसार हो, यह निवृत्ति के प्रत्यक्ष लक्ष्य का परोक्ष साधन माना गया है। क्योकि यह ससार मे प्रवृत्ति करने की बात नहीं वरन् सामाजिक सुधार द्वारा निवृत्ति के लक्ष्य को मस्तिष्क में स्पष्ट कराने का अथक प्रयास है।

जैन सिद्धातो की जो गति है, वह निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की है, प्रवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की नहीं। निवृत्ति का प्रसार उसी समाज मे हो सकेगा जिसमे गुणो और आचरण की पूजा होती होगी। किन्तु जब तक ऐसा स्वस्थ समाज नहीं बनेगा तो यह भी सभव नहीं हो सकता कि निवृत्ति का व्यापक प्रचार हो सके। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' हमारे यहाँ कहा गया है। धर्म का आचरण तभी शुद्ध बन सकेगा जब समाज का व्यवहार शुद्ध होगा और समानता के जो स्रोत जैन सिद्धान्तों के अनुसार बताये गये, वे ही सशक्त साधन हैं, जिनके आधार पर समाज के व्यवहार का शुद्धिकरण किया जा सकता है।

सजग सामाजिकता आत्म–कल्याण की ज्योति जगाये, यही जैन सिद्धान्तो का सदेश है।

विचार-समन्वय का सुमार्ग

❖ ❖ ❖

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे प्राणी समाज मे उच्च स्थान प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है, स्वय ही और स्वतत्रतापूर्वक भी, अत उसका परिणाम स्पष्ट हे कि विचारों की विभिन्न दृष्टिया ससार मे जन्म लेती हैं। एक ही वस्तु के स्वरूप पर भी विभिन्न लोग अपनी–अपनी अलग–अलग दृष्टियो मे सोचना शुरू करते हैं। किन्तु

उसके आगे एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियो से सोचकर उसके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नहीं झुकते। जिसने एक वस्तु को जिस विशिष्ट दृष्टि से सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वाग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्त्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि ऐकान्तिक दृष्टिकोण व हठवादिता का वातावरण मजबूत होने लगता है और वे ही विचार जो सत्यज्ञान की ओर बढा सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव मे सघर्ष के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं।

अगर विचारो को जोडकर देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती है तो वह एकागी सत्य भी सत्य न रहकर मिथ्या मे बदल जायेगा। अत सत्य को जोडकर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टि से देखने की कोशिश की जाये।

यही जगत के वैचारिक सघर्ष को मिटाकर उन विचारो को आदर्श सिद्धातो का जनक बनाने की सुन्दर राह है।

कर्मवाद का अन्तर्रहस्य

कर्मबन्धन के प्रधान कारणो का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मोह, अज्ञान या मिथ्यात्व, यही सबसे बडे कारण हैं। क्योकि इन्हीं के कारण राग द्वेष—का जन्म होता है व तज्जन्य विविध विकारो से आत्मा कर्म से लिप्त हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र मे कर्मबन्ध के कारणो पर कहा गया है—

सकषायत्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध

राग-द्वेषात्मक कषाय परिणति से आत्मा कर्मयोग्य पुद्गलो को जब ग्रहण करती है तो वही बन्ध है तथा इसके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बताये गये हैं। यह उल्लेखनीय स्थिति है कि कर्मबन्ध का मुख्य कारण बाहर की क्रियाए उतनी नहीं, जितनी आंतरिक भावनाए मानी गई हैं। क्रियाओ मे अनासक्त भाव का प्राबल्य बनाने से विकारों का प्रभाव नहीं पडता। शैलेषी नाम की क्रिया मे तो अनासक्ति क्या, मन, वचन, काया की प्रवृत्तियो का सम्पूर्ण निरोध ही कर लिया जाता है।

कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्त होने के लिए नये आने वाले कर्मो को रोकना पडता है। इस रोकने को सवर तथा जिन स्रोतो से कर्म आते हैं उन्हे आस्रव कहा गया है। आस्रव का विरोध सवर है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन व

चारित्र की शक्तियों से आत्मा के विकार– कर्मो को दूर करना चाहिए ताकि आत्मा कर्ममुक्त होकर अपने मूल रूप की ओर गति कर सके।

जैन धर्म का कर्मवाद सिद्धात मानव को अपना निज का भाग्य स्वत ही निर्माण करने की प्रेरणा देने के साथ ही उसे जीवन की ऊची–नीची परिस्थितियो मे शाति, उत्साह, सहनशीलता और कर्मठता का जागरूक पाठ पढाता है। अपने पर छा जाने वाली आपत्तियों के बीच भी वह उन्हें अपना ही कर्मफल समझकर शान्तिपूर्वक सहन करने की क्षमता पैदा करता है तथा उज्ज्वल भविष्य के निर्माण-हित सत्प्रयत्नो मे प्रवृत्त हो जाने पर दृढ निश्चय कर लेता है। कर्मवाद को मानकर वह पूर्वकृत कर्मो के फल को अपने कर्ज चुकाने की तरह स्वीकार करता है। कर्मवाद के जरिये मनुष्य में स्वावलम्बन व आत्मविश्वास के सुदृढ भाव जाग्रत होते हैं और यह इस सिद्धांत का सबसे बडा व्यावहारिक मूल्य है।

कर्मवाद का यही सदेश है कि जो स्वरूप परमात्मा का है, वही प्रत्येक आत्मा का है, किन्तु उसे प्रकटाने के लिए विजातीय भौतिक पदार्थों से मोह हटाकर सजातीय आत्मिक शक्तियो को प्रकाशित करना होगा।

परमात्मा आत्मा का परमोत्कृष्ट रूप

❖ ❖ ❖

जैन दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि परमात्म–पद कोई अलग वस्तुस्थिति नहीं बल्कि उसका स्वरूप आत्मा के ही परमोत्कृष्ट रूप में जाज्वल्यमान होता है। आत्मा पर लगा हुआ कर्म का कलुष ज्यो–ज्यों धुलता जाये, गुणस्थान की सीढियों पर चढता जाये, तब चरम स्थिति होती है कि वही परमात्म–पद पर पहुच जाता है। आत्मा से परमात्मा की गतिक्रम रेखा है, एक ही मार्ग के दो सिरे हैं जिनमे कर्म–स्वरूप भेद हैं, मूल भेद नहीं। हमारी यह मान्यता नहीं कि ईश्वर इस जगत या जगवर्ती आत्माओं से प्रारम्भ ही मे विलग रहा है और उसका जगत की रचना से कोई सम्बन्ध हो। जगत् का क्रम कर्मानुवर्ती माना गया है और उसी आवर्तन में पुद्गल तथा आत्माए प्रेरित व अनुप्रेरित होते हैं और चक्कर लगाते रहते हैं। आत्माए कर्म चक्र मे फसती हैं और धर्म वह आधारशिला है जिस पर चढकर वे इस चक्र से निकलने का पराक्रम भी करती हैं। इसी पराक्रम की सफलता का अन्तिम बिन्दु परमात्म–पद है।

विकास का मूल सिद्धान्त

मनुष्य स्वय ही अपने व समाज के भाग्य का निर्माता है– इस तथ्य को जब-जब उसने भुला देने की कोशिश की तब-तब मानव समाज में शिथिलता व अकर्मण्यता का वातावरण फैला। किसी अन्य पर अपने निर्माण को आश्रित बनाकर विकास करने का उत्साह मनुष्य में नहीं बन पडता, चाहे वैसा आश्रय खुद ईश्वर को ही सौंपा गया हो। मनुष्य गतिशील प्राणी है और जहा भी उसे गतिहीन बनाने का प्रयास किया गया कि उसका विकास रुक गया। मनुष्य स्वय ही पर आश्रित रह सकता है, किसी अन्य पर उसे आश्रित बनाकर उसको गतिशील नहीं बनाया जा सकता है।

जैन दृष्टि के अनुसार आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, भक्त स्वय भगवान बन कर दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेता है और आराधक एक दिन आराध्य के रूप मे अपने उच्चतम स्वरूप को ग्रहण करता है और जैन धर्म के इस प्रगतिशील विकासवाद का मूलाधार सिद्धान्त है कर्मवाद का सिद्धान्त।

अत कर्मवाद का सिद्धान्त इस सत्य का प्रतीक है कि प्राणी के लिए कोई भी विकास, चाहे वह चरम विकास के रूप में ईश्वरत्व की प्राप्ति ही क्यो न हो, असभव नहीं। वह स्वय कर्ता है और फलभोक्ता है।

इस विचारणा के पीछे जो मजबूती है, वह स्वत प्रेरित फलवाद की धारणा है। अगर फलवाद का कार्य ईश्वर पर छोडा जाये, जैसा कि अन्य दर्शन मानते हैं, तो वही आश्रित अवस्था पैदा हो जाने पर मनुष्य में से स्वाश्रय का भाव जाता रहेगा और तदुपरान्त प्रगति की ओर बढने की वैसी लक्ष्यसाधित विचारणा उसमे बनी न रह सकेगी।

जैन दर्शन का तत्त्ववाद

जैन शास्त्रो मे तत्त्ववाद का बडा विशद विवरण है। इस समूचे तत्त्ववाद को नौ भागो में विभक्त किया गया है–

१ जीव २ अजीव ३ बध ४ पाप ५ पुण्य ६ आश्रव ७ सवर ८ निर्जरा ९ मोक्ष।

जीव तत्त्व– जो सच्चिदानन्दमय हो। इसमे तीन शब्द मिले हुए हैं– सत्, चित् और आनन्द। सत् का अर्थ है जो तीनो काल मे स्थायी रहता है। अर्थात् जो पर्याय बदलने की दृष्टि से पैदा हो, नष्ट हो जाये किन्तु द्रव्य रूप से नित्य व शाश्वत रहे वह सत् होता है। चित् अर्थात अपने से ऊपर साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वय ही प्रकाशमान होकर दूसरो को भी प्रकाशित करता है। चेतन का तीसरा गुण है आनन्द। हम हैं और हन अनुभव करते हैं, उसका परिणाम जो निकलता है वह आनन्द है।

अजीव तत्त्व यानी जड पुद्गल का स्वभाव सडना, गलना, बदलना और नित्यप्रति इसकी पर्याये बदलती हैं।

बध तत्त्व– जीव–अजीव को बांधने वाले तत्त्व का नाम है।

पाप–पुण्य तत्त्व– बध के फलस्वरूप सामने आते हैं और दोनो अशुभ या शुभ फलदायक होते हैं। इन्हीं के कारण आत्मा सासारिक सुखों या दुखो का अनुभव करती रहती है।

आस्रव तत्त्व– अशुभ लगावट आत्मा के साथ होती है उसे आस्रव तत्त्व कहा है। आस्रव तत्त्व से आत्मा की मलिनता बढती है।

संवर तत्त्व– शुभ योग तथा योग निरोध को सवर कहा है। यद्यपि सवर तत्त्व आत्मोत्थान मे सहायक होता है, किन्तु उसी तरह जिस तरह नाव नदी को पार करने में सहायक होती है।

निर्जरा तत्त्व– सलग्न कर्म पुद्गलो से आत्मा को छुडाने वाला तत्त्व है। निर्जरा का अर्थ है कर्मक्षय।

मोक्ष तत्त्व– जब आत्मा जड की उगावट को पूरे तौर पर खत्म कर देती है और शरीर के अन्तिम बन्धन से जब वह छूट जाती है तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

शुद्धि सिद्धिदायिनी

पहले हमे यह देखना होगा कि धर्म को हृदय मे विराजने के आहान के पूर्व उसके धरातल का निर्माण किया गया है या नहीं ? यदि प्राथमिक

हृदय–शुद्धि नहीं की है और धर्म का आह्वान किया तो क्या उसका निवास फिर स्थायी हो सकेगा ? यह सोचने की बात है।

परन्तु साधारणतया देखा जाता है कि अन्त करण की बिना शुद्धि किये ही धर्माराधन किया जाता है– भगवान धर्मनाथ को हृदय मे पधारने का आमत्रण दिया जाता है। आप ही उस विज्ञान को क्या कहेगे जो बिना खेत को जोते और कृषियोग्य बनाये ही वर्षा को बुलाने के लिए मल्हार राग गाने के लिए बैठ जाये ?

एक फारसी कवि ने कहा है–

गैर हकराभी देही दर हीरी में दिलचरा

अर्थात्– हे मनुष्य तू अपने हृदयरूपी भवन मे परमात्मा के अतिरिक्त किसी को स्थान मत दे और परमात्मा धर्म का प्रतीक है तथा है विश्व मे अपने-आपको व्याप्त कर अपने मूल स्वभाव की ओर गति करना। किन्तु हृदय के विकारो से मुक्त हुए बिना उसमे धर्म का प्रवेश नहीं हो पाता।

इतना विश्लेषण इसीलिए किया है कि मनुष्य अपनी प्रगति की राह को पहचान सके और अपनी भूमिका एव गति को माप–तौल सके। अत इसका सीधे शब्दो में यही सार है कि मनुष्य के मूल स्वभाव की ओर बढने मे सभी सद्गुणो व सत्कार्यो का समावेश हो जाता है, जहां स्वार्थ वृत्ति की समाप्ति होकर उसके हृदय मे सबके लिए उत्कृष्ट आत्मीय प्रेम का मिठास होगा तथा होगी उसकी प्रवृत्तियो मे ससारभर की पवित्र सेवा करने की अटल कर्मठता। तब विश्वानुभूति को हृदय मे समाकर वह अपने चरम विकास– धर्म की मजिल की ओर उन्मुख हो उधर तेजी से बढने लगेगा।

विश्वशांति का मूल

ममत्व से जागता है राग और द्वेष। अपनी सम्पत्ति के प्रति राग बढे और उसकी रक्षा की जाय और राग जितना गाढा होता जायगा, उस सपत्ति की वृद्धि व रक्षा में वह उचित–अनुचित, कार्य–अकार्य सब-कुछ बेहिचक करने लग जायगा। इसके साथ ही दूसरो की सपत्ति से अपने मन मे द्वेष जागेगा और उस सपत्ति के प्रति विनाश की बात सोचेगा। इन राग और द्वेष की वृत्तियो के साथ मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, अन्याय की कई बुराइया मानव

मन मे प्रवेश करती जायेगी तथा इन बुराइयो की फैलावट से दुनिया का स्वरूप 'त्राहिमाम्—त्राहिमाम्' हो जाता है। उसका अनुभव, मैं समझता हू वर्तमान व्यवस्था मे आपको हो रहा होगा।

आज के साम्यवाद, समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं। यदि अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन मे उतारे तो वे अपने जीवन मे तो आनद का अनुभव करेंगे ही, साथ ही सारी दुनिया में एक नई रोशनी, नया आदर्श भी उपस्थित कर सकेगे। अपरिग्रह का सिद्धात साम्यवाद व समाजवाद के लक्ष्यो की पूर्ति कर देगा, किन्तु उनकी बुराइयो को भी, चारित्र एव संयम की आधारशिला पर नागरिको को खडा करके, पनपने नहीं देगा।

परिग्रह की परिभाषा

परिग्रह की व्याख्या की गई है, "मूर्च्छा परिग्रह"। पदार्थों का नाम परिग्रह नहीं, उनमे ममत्व रखकर आत्मज्ञान से सज्ञाशून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है। जब जड पदार्थो में गृद्धि बढती है और प्राणी अपने चेतन तत्त्व को भूलता है तब उसको परिग्रही कहा। यह ममत्व जब मनुष्य के मन मे जागता है तो आत्मा को कलुषित करने वाले सैकडो दुर्गुण उसमे प्रवेश करने लगते हैं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धांत पर विशेष प्रकाश डाला ओर निवृत्तिप्रधान मार्ग की प्रेरणा दी। उन्होने साधु व गृहस्थ धर्मो के जो नियम बताये वे इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

साधु के लिये तो उन्होने परिग्रह का सर्वथा ही निषेध किया, उसे निर्ग्रन्थ कहा। साधु को इसीलिए संयमोपकरण रखते हुए अपरिग्रही कहा है कि उसका उनमे ममत्व नहीं होता और ममत्व क्यो नहीं होता कि उन पदार्थों पर वह अपना स्वामित्व नहीं मानता। वे पदार्थ वह भिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। साधु के लिए तो भगवान ने कहा कि उसको अपने शरीर मे भी ममत्व नहीं होना चाहिये, इसीलिए जैन साधु का जीवन जितना सादा, जितना कठोर और जितना त्यागमय बतलाया गया है, उसकी समता अन्यत्र कठिनता से देखने मे आयेगी।

भगवान् महावीर ने साधु जीवन को कतई परिग्रह से मुक्त रखा ताकि वे गृहस्थो मे फैले परिग्रह के ममत्व को घटाते रहे।

जो तृष्णा के दास हैं

आज के मानव को अपने स्वार्थों को पूरा करने की आशा, आकाक्षा, इच्छा, तृष्णा, वासना या कुछ भी कह लीजिए, इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागलपन आज तक नहीं देखा गया। उसकी मदान्धता ने सामाजिक जीवन मे भीषण उथल–पुथल मचा दी है। इसका कारण यह है कि आज की इच्छाओ ने व्यक्तिगत से सामूहिक रूप धारण कर लिया है और इसीलिए पूर्ति के साधनो मे भी सामूहिकता का भाव आने से इसकी भीषणता व बर्बरता अधिक बढ गई है। लेकिन यह सामूहिकता व्यापक सामूहिकता नहीं, किन्तु कुछ शक्तिसम्पन्नो की सामूहिकता है जो अपने मानवता-घातक सगठनो द्वारा अशक्त विशाल जन–समाज का क्रूर शोषण करवाती है।

इस स्थिति का वास्तविक कारण सहज ही मे जाना जा सकता है। तृष्णा के पागलपन में मनुष्य अन्धा हो जाता है। तब उसकी जीवन–शाति मे अशाति के भीषण अधड आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशात नहीं बनाते बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक–पर–एक तृष्णाए उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति मे मनुष्य हर बुरे–से–बुरा तरीका काम में लाकर समाज मे शोषण, अन्याय और उत्पीडन की भयकर आग जलाता है। यही कारण है कि व्यवहार मे धार्मिक चिन्तन एव क्रियाए करने वाला व्यक्ति आन्तरिक विचारधारा से आशापूर्ति के नवीन–नवीन उपायो की खोज करता रहता है।

दरिद्रता का उन्मूलन कैसे ?

आज के मानव को अपने स्वार्थो को पूरा करने की आशा, आकाक्षा इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागलनपन आज तक नहीं देखा गया है। पागलपन मे इतना अधा हो गया है कि उसकी जीवन–शान्ति में अशाति के भीषण अधड आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशात नहीं बनाते, बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं।

मन मे प्रवेश करती जायेगी तथा इन बुराइयो की फैलावट से दुनिया का स्वरूप 'त्राहिमाम्-त्राहिमाम्' हो जाता है। उसका अनुभव, मैं समझता हू वर्तमान व्यवस्था मे आपको हो रहा होगा।

आज के साम्यवाद, समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं। यदि अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन मे उतारे तो वे अपने जीवन मे तो आनद का अनुभव करेंगे ही, साथ ही सारी दुनिया में एक नई रोशनी, नया आदर्श भी उपस्थित कर सकेगे। अपरिग्रह का सिद्धात साम्यवाद व समाजवाद के लक्ष्यो की पूर्ति कर देगा, किन्तु उनकी बुराइयो को भी, चारित्र एव सयम की आधारशिला पर नागरिको को खडा करके, पनपने नहीं देगा।

परिग्रह की परिभाषा

❖ ❖ ❖

परिग्रह की व्याख्या की गई है, "मूर्च्छा परिग्रह"। पदार्थों का नाम परिग्रह नहीं, उनमे ममत्व रखकर आत्मज्ञान से सज्ञाशून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है। जब जड पदार्थो में गृद्धि बढती है और प्राणी अपने चेतन तत्त्व को भूलता है तब उसको परिग्रही कहा। यह ममत्व जब मनुष्य के मन मे जागता है तो आत्मा को कलुषित करने वाले सैकडों दुर्गुण उसमे प्रवेश करने लगते हैं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धात पर विशेष प्रकाश डाला और निवृत्तिप्रधान मार्ग की प्रेरणा दी। उन्होने साधु व गृहस्थ धर्मो के जो नियम बताये वे इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

साधु के लिये तो उन्होने परिग्रह का सर्वथा ही निषेध किया, उसे निर्ग्रन्थ कहा। साधु को इसीलिए सयमोपकरण रखते हुए अपरिग्रही कहा है कि उसका उनमे ममत्व नहीं होता और ममत्व क्यो नहीं होता कि उन पदार्थो पर वह अपना स्वामित्व नहीं मानता। वे पदार्थ वह भिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। साधु के लिए तो भगवान ने कहा कि उसको अपने शरीर मे भी ममत्व नहीं होना चाहिये, इसीलिए जैन साधु का जीवन जितना सादा, जितना कठोर और जितना त्यागमय बतलाया गया है, उसकी समता अन्यत्र कठिनता से देखने मे आयेगी।

भगवान् महावीर ने साधु जीवन को कतई परिग्रह से मुक्त रखा ताकि वे गृहस्थो मे फैले परिग्रह के ममत्व को घटाते रहें।

जो तृष्णा के दास हैं

आज के मानव को अपने स्वार्थों को पूरा करने की आशा, आकाक्षा, इच्छा, तृष्णा, वासना या कुछ भी कह लीजिए, इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागलपन आज तक नहीं देखा गया। उसकी मदान्धता ने सामाजिक जीवन मे भीषण उथल–पुथल मचा दी है। इसका कारण यह है कि आज की इच्छाओ ने व्यक्तिगत से सामूहिक रूप धारण कर लिया है और इसीलिए पूर्ति के साधनों मे भी सामूहिकता का भाव आने से इसकी भीषणता व बर्बरता अधिक बढ गई है। लेकिन यह सामूहिकता व्यापक सामूहिकता नहीं, किन्तु कुछ शक्तिसम्पन्नो की सामूहिकता है जो अपने मानवता-घातक सगठनो द्वारा अशक्त विशाल जन–समाज का क्रूर शोषण करवाती है।

इस स्थिति का वास्तविक कारण सहज ही में जाना जा सकता है। तृष्णा के पागलपन में मनुष्य अन्धा हो जाता है। तब उसकी जीवन–शाति में अशाति के भीषण अधड आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशात नहीं बनाते बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक–पर–एक तृष्णाए उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरे–से–बुरा तरीका काम मे लाकर समाज में शोषण, अन्याय और उत्पीडन की भयकर आग जलाता है। यही कारण है कि व्यवहार मे धार्मिक चिन्तन एव क्रियाए करने वाला व्यक्ति आन्तरिक विचारधारा से आशापूर्ति के नवीन–नवीन उपायो की खोज करता रहता है।

दरिद्रता का उन्मूलन कैसे ?

आज के मानव को अपने स्वार्थो को पूरा करने की आशा, आकाक्षा इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागलनपन आज तक नहीं देखा गया है। पागलपन मे इतना अधा हो गया है कि उसकी जीवन–शान्ति मे अशाति के भीषण अधड आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशात नहीं बनाते, बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं।

एक–पर–एक तृष्णाये उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति मे मनुष्य हर बुरे–से–बुरा तरीका काम मे लाकर समाज मे शोषण, अन्याय और उत्पीडन की भयकर आग जलाता है।

तृष्णा के इस विषाक्त व्यापक प्रसार के कारण सासारिक व धार्मिक– दोनो क्षेत्रो मे दरिद्रता, घर कर गई है। इस दरिद्रता से आज मानवता पिस रही है और पशुता का नगा नाच होरहा है। यह दरिद्रता तृष्णा-परित्याग से हटाई जा सकती है। तृष्णा का त्याग करके ही मानव–समाज की आर्थिक एव अन्य क्षेत्रीय दरिद्रताओ का विनाश सहज ही मे हो सकता है।

शांति का उपाय

शान्ति जीवन–विकास के लिये एक प्रमुख आवयकता है और जब तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क मे शाति के सचार का प्रयास नहीं करेगे, आपत्तियो के तूफान मे पडकर कभी हम आत्मोन्नति की ओर ध्यान दे नहीं सकेगे। सच्ची शान्ति के लिए विकृत मनोविकारो का आवरण हटाना होगा, राग-द्वेष, मोह-माया, तृष्णा–स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियो का त्याग करके हृदय को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो भी महापुरुष शाति की परम स्थिति को पहुँचे हैं, उनके स्पष्ट अनुभव हैं कि ज्यो–ज्यो मनुष्य निजी स्वार्थो को भूलकर परहित मे अपने स्वार्थो को विसर्जित करता चला जाता है, त्यो–त्यो वह शाति की मजिल के समीप पहुचता है। इसके साथ ही अपने ही स्वार्थ मे निरत रहने पर जीवनाकाश को अशाति के बादल ही घेरे रहते हैं। इस रहस्य मे आत्मा की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमे मिलता हे। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और इसलिये ऐसे कार्य सम्पादित करने मे उसे आनन्द व शाति की प्राप्ति होती है जो उसके नीचे गिराये रहने वाले भार को हल्का करते हैं। अपने ही दृष्टिकोण से दूसरो के लिये सोचना– यह सकुचित मनोवृत्ति आत्मा को पतन की राह पर नीचे ढकेलने वाली होती हे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्तरिक स्थायी शाति का निवास स्वार्थ–त्याग तथा आत्म–बलिदान मे ही रहा हुआ हे। पहली श्रेणी है कि अपने निजी स्वार्थो की भावना को खत्म कर दिया जाय और तदनन्तर दूसरों

के व्यापक हितो के लिये अपना
यह बलिदान–पथ कठोर अवश्य है, किन्तु
का कोई सम्बन्ध नहीं है। आन्तरिक
भावना के साथ ही सफलतापूर्वक की
सीमा पर पहुचने के साथ ही कैवल्य ज्ञान
ज्ञान परम–शाति का मुखद्वार है।

आध्यात्मिक ज्ञान

आत्मा के सम्बन्ध मे मनन और
चरम बिन्दु है। यही ज्ञान की पराकाष्ठा
परमात्मपद को उपलब्ध करना है, जहां
अवलोकन किया जा सके। आत्म–स्वरूप
आज ससार मे इतना अज्ञानान्धकार व

जीवन मे नित्य परिवर्तन होते रहते हैं
नई क्रातिया हो जाती हैं किन्तु यदि हम
समझने का प्रयास करेगे तो ज्ञात होगा
केन्द्र-स्थल है, जो शाश्वत, स्थिर और शात है
महान् भूकम्प, प्रचड ज्वालामुखी तथा भौतिक
बम भी स्पर्श तक नहीं कर सकते। अशाति का
को बाधित नहीं कर सकता।

आत्म–शक्ति का अन्तर्दर्शन ही व्यक्ति–
शक्ति को प्रकाशित करने का अपूर्व साधन है–
जडवादी युग ने इस ज्ञान को लुप्त करने के प्रयास
सस्कृति-पटल से इसे मिटाया नहीं जा सकता
स्थिति पूर्ण रूप से हमारे हृदयो से लुप्त हो
सास्कृतिक प्रलय आयगा जो मानवता को क्रूर
अत सच्चे विकास के लिए हमे आत्म–स्वरूप को
के बाद आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा उसे प्रगति की
पहुचाना है।

मनुष्य को अपने स्वरूप को समझकर विवेक रखने की आवश्यकता है। ससार मे रहते हुए अध्यात्म–ज्ञान ससार से भागना नहीं सिखाता है। वह तो मानव को अनासक्ति योग की शिक्षा देता है।

अध्यात्म–ज्ञानी 'जीओ ओर जीने दो' के सिद्धान्त को केवल समझता ही नहीं, अपितु अपने जीवन मे उसका यथाशक्य आचरण करता है। वह समझता है कि वह जैसा व्यवहार दूसरो के प्रति करेगा, यदि वेसा ही व्यवहार उसके प्रति भी किया जाय तो उसकी अनुभूति कैसी होगी तथा उसी विचारणा के अनुसार वह अपनी सारी प्रवृत्तिया निर्धारित करता है।

सम्यक् चारित्र का आचरण करो

जैनागमो मे विस्तारपूर्वक चारित्र–चित्रण का व्याख्यान किया गया है। ज्ञान की महत्ता चारित्र्य के साथ ही कही गई है। बिना चारित्र्य के ज्ञानी की उपमा शास्त्रो मे है कि चन्दन के भार को वहन करता हुआ भी गधा जैसे उसकी सुगन्ध को नहीं समझता, वह तो उसे भार की तरह ही उठाये फिरता है, उसी तरह आचरणहीन ज्ञान भी भाररूप ही है। ज्ञान और चारित्र्य के सगम से ही मनुष्य अपने अतिम ध्येय तक पहुच सकता है। ज्ञान के बिना चारित्र्य अन्धा है और चारित्र्य के बिना ज्ञान लगडा, अत अन्धे और लगडे के सहयोग करने से ही दोनो का त्राण हो सकता है। आचरणहीन ज्ञान की तरह ही शास्त्रो मे ज्ञानहीन आचरण को भी महत्त्व नहीं दिया गया है। बिना सम्यग्ज्ञान के की जाने वाली कठोरतम क्रियाए भी चारित्रिक विकास का कारण नहीं बन सकतीं। लोभी व्यक्ति भी अपने धनार्जन के लिए साधु की तरह शीत, ऊष्ण, वर्षा के कष्ट सह सकता है, पर उनका कोई महत्त्व नहीं। जैसे बिना सुवास के पुष्प का मोल ही क्या ? उसी तरह आत्म–भावना बिना तपादिक की क्रियाए आत्म–विकास मे सहायक नहीं हो सकतीं। दशवेकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा हे कि तपस्यादि आचार का पालन न तो इस लोक मे प्रशसा प्राप्त करने के हेतु करे, न परलोक के सुखो की प्राप्ति के लिए। किन्तु केवल अपने आत्म–विकास के लिए पूर्ण निष्काम भाव से ही करे। जैन शास्त्रो मे ऐसी किसी भी क्रिया का विधान चारित्र्य की श्रेणी मे नहीं किया गया हे, जिससे किसी भी रूप मे मानसिक, वाचिक या कायिक हिंसा होती हो।

कई लोग जेनो द्वारा वर्णित चारित्र्य धर्म को सिर्फ निवृत्ति व प्रवृत्ति का ही रूप बताते हैं किन्तु जैन धर्म निवृत्ति व प्रवृत्ति उभय रूपक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति का कोई अर्थ ही नहीं होता। असत् से निवृत्ति करने के लिए सत् मे प्रवृत्ति करनी ही पडेगी। जैनागमो मे जहॉ बुराई के त्याग का वर्णन है, वहीं अच्छाई के आचरण का भी। 'कु' को 'सु' मे बदल देना ही सच्चा आचरण है। जैन दर्शन मे सहजिक योग सुमति का वर्णन है जिसका अर्थ ही है कि सम्यक् प्रकार से गति करना।

इस तरह के वर्णित आचरण के अनुसार जो अपने जीवन को ढाल लेता है, उस आत्मा का चरम विकास सुनिश्चित बताया गया है। इस सारे आचरण का मूल हमारे यहॉ विनय को कहा गया है– "विणयो धम्मस्स मूल।"

समय का मूल्यांकन करो

समय का समुचित मूल्याकन ही नियमितता एव व्यवस्थितता की कुजी है। जबकि हम देखते हैं कि आज के साधारण जीवन मे समय को यथायोग्य महत्त्व नहीं दिया जाता। जीवन का कोई नियमित व्यवस्था–क्रम ही नहीं। पैसे ही हाय–हाय ऐसी देखी जाती है कि सुबह से लकर रात तक घाणी के बैल की तरह जुटे ही रहते हैं तृष्णा के पीछे पागल होकर। उन्हे अपने जीवन मे शाति का अनुभव ही नहीं होता और उसका स्पष्ट कारण हे कि समय का सद्विभाजन व सदुपयोग किये बिना मानव का मन कभी भी सुखी नहीं बन सकता। इसी दृष्टि से शायद समय के महान महत्त्व को सुप्रकट करने के लिये महावीर ने निर्देश किया कि–

समय, गोयम ! मा पमायए

हे गौतम ! तू 'समय' मात्र का भी प्रमाद– आलस्य मत कर।

मनुष्य अपने जीवन के क्रमबद्ध विकास की ओर तभी मुड सकता है, जबकि उसे अपने जीवन, अपने विचारो व अपनी प्रवृत्तियो को स्वयमेव भलीभाति पहचानने व परखने का मोका मिले और यह तभी हो सकता हे कि वह अपने दैनिक कार्यक्रम मे कुछ भी निश्चित समय आत्मचिन्तन के लिये निकाल ले। आत्मचिन्तन व आत्मालोचन से अपने जीवन को सुव्यवस्थित बनाने की ओर सुदृढ मनोवृत्ति का निर्माण होता है और यही मनोवृत्ति वुद्धि को सुष्ठु वनाते हुए जीवन के सभी पक्षो को सनुन्नत वनाती हे।

आनन्द-प्राप्ति कब !

❖ ❖ ❖

मन और इन्द्रियो की गुलामी से छूटकर जीवन का क्रम आत्मा की आतरिक आवाज का अनुकरण करने लगे तो वह आनन्द वास्तव मे विशिष्ट आनन्द होगा और उसी आनन्द की निरन्तर बढती हुई अनुभूति मे आत्मा का पावन स्वरूप निखरता जायगा।

जब तक यह आनन्द देश, काल और वस्तु की परिधियो मे बन्द रहेगा तब तक वह आनन्द न होकर आनन्दाभास मात्र रहेगा। क्योकि देश की अपेक्षा मे आप सोचते हैं कि ग्रीष्मकाल मे नैनीताल या नीलगिरि शीत प्रदेश होने से आनन्ददायक होते हैं किन्तु वे ही प्रदेश शीतकाल मे आपको आनन्ददायक नहीं हो सकते। इसी प्रकार काल और बाह्य का भी हाल है। वह आनन्द एक समय में होगा, एक प्रदेश मे होगा अथवा कि एक पदार्थ मे होगा किन्तु दूसरे ही समय, प्रदेश या पदार्थ की उपलब्धि होते ही वह नष्ट हो जायगा।

अत यह आत्मिक आनन्द देश, काल, वस्तु से वर्णादिक भाव-शून्य आत्मा मे ही निहित है और उसी मे रमण करती हुई आत्मा आनन्द को प्राप्त होती है।

आत्मविस्मृति का कारण

❖ ❖ ❖

आत्मस्वरूप के प्रति अनभिज्ञता का एक प्रधान कारण यह भी है कि हमारे देश का बहुत बडा हिस्सा 'अवतारवाद' मे विश्वास करता है। 'यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत' के सिद्धान्तानुसार ससार को सकटो से उबारने के लिये स्वय ईश्वर ही भिन्न–भिन्न समय पर भिन्न–भिन्न रूप में अवतरित हुए हैं ओर उन्होने ससार की गति को सत्पथ की ओर मोडा। इसके सिवाय वे लोग यह भी विश्वास रखते हैं कि वही ईश्वर सृष्टि का कर्ता भी हे तथा उसकी मर्जी के बिना धरती का एक भी कण और पेड का एक भी पत्ता नहीं हिलता। मनोवैज्ञानिक रूप से सोचे तो इस मान्यता के

द्वारा साधारण जनता मे आत्मविस्मृति व अकर्मण्यता का भाव फैलता गया। निज की शक्ति के प्रति अविश्वास समाता गया और यह सोचा जाने लगा कि इस विशाल विश्व मे उसका अस्तित्व किसी महत्त्व का धारक नहीं। इस प्रकार की हीन मान्यता (Inferiority Complex) की भावना ने जनता मे फैलने वाली सजगता व चेतनता का विनाश किया और उसे यह मनाने पर मजबूर किया कि परमात्मा ही सब-कुछ है, जो उनकी आत्मशक्तियो से परे एक अलग, विशिष्टतम तथा अनोखी आत्मशक्ति है। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग मे इस अन्धवादिता से दूर होने की और यह समझने की आवश्यकता है कि हमारा अपना अस्तित्व हमारे लिये क्या महत्त्व रखता है और उसे किस विकास की तरफ ले जाने से प्रगमनशीलता के क्षेत्र मे पूर्णतया प्रस्फुटित हो सकता है ?

जैन दर्शन के किसी सिद्धात मे अन्धवादिता व प्रतिक्रियावादिता की बू नहीं मिलेगी। वह न तो अवतारवाद मे ही विश्वास करता है और न ईश्वर–सृष्टि कर्तव्य मे ही। वह तो आत्मा की निज की अमित शक्ति पर विश्वास करता है, जिसका चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति हे। जैन दर्शन स्पष्ट कहता आया है कि जीवन का विकास किसी बाह्य शक्ति की प्रेरणा से नहीं, अपितु निज मे रही हुई शक्ति को पहचान लेने से होता है। मानव स्वय अपने जीवन का निर्माता है और उसके उत्थान–पतन का उत्तरदायित्व केवल उसी पर है।

चारित्र-निर्माण की बात करते हैं तो..

अपरिग्रहवाद की गहराई मे घुसकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वहा व्यक्ति ओर समाज– दोनो को सतुलित करने का विचार किया गया है। समाज मे विषमता, शोषण एव अन्याय की जननी ममत्वबुद्धि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चारित्र और अध्यात्म को भी नीचे गिराती हे। जिस समाजवादी सिद्धान्त की कल्पना की जाती हे वह भी क्या हे– एक तरह से समाज मे सम्पत्ति, धनधान्य एव उपभोग–परिभोग की वस्तुओ की समान रूप से मर्यादा वाधने की ही तो वात हे।

जब साधन–सामग्री का नियमन किया जाये तो निश्चित है कि उसका कम हाथो मे सग्रह नहीं होगा बल्कि वही सपत्ति ओर सामग्री अधिकतम हाथो मे बिखर जायगी। जीवन निर्वाह के लिये शोषण की आवश्यकता नहीं होती है, वह तो होती है सग्रह के लिये, इसलिये सग्रह ही समाज मे सारी बुराइया पैदा करता है। फलस्वरूप समाज के सभी वर्गो पर इस विषमता का कुप्रभाव होता है, अनैतिकता फैलती हे।

जहा हम व्यक्ति का चारित्र उठाना चाहते हे, उसे नीतिमान व सयमशील बनना चाहते हैं, वहा ममत्व को मर्यादित कर दिया जाय व उसे निरन्तर घटाते रहने का क्रम बनाया जाये तो निश्चित रूप से समाज मे एक कुटुम्ब का–सा भ्रातृत्व व समता का भाव फेलेगा तथा धर्म के क्षेत्र मे निष्काम निवृत्तिवाद का प्रसार होगा, जिसका उपदेश भगवान महावीर ने दिया।

इसकी ओर आप लोगो का ध्यान जाय और उस मार्ग पर चले तथा इसका प्रकाश सारे ससार मे फेलाये– यह आज के युग की माग हे।

सर्वोदय के लिये क्या करें ?

❖ ❖ ❖

परमात्मा की जय मे ससार के सभी प्राणियो की जय है, चाहे उन प्राणियों मे जैन, हिन्दू, मुस्लिम हो या पूजीपतिमजदूर हो या मित्र–शत्रु व मानव–पशु हो। इस भावना का नाम ही सर्वोदयवाद है। सब का उदय हो, सब मानवता के रहस्य को समझकर अपनी अन्यान्यपूर्ण विशेषताओ को छोडे ओर विश्ववन्धुत्व की स्थापना करे, इसी मे परमात्मा की जय बोलने का सार रहा हुआ हे। आज हम अपनी जय चाहते ह, उसका विनाश देखने की उत्सुकता रखते हैं, यही अज्ञान है ओर परमात्मा के स्वरूप को वास्तविकता से नहीं समझने का फल है। परमात्मा के स्वरूप को पहचानने वाला सच्चा भक्त अपनी जय नहीं चाहता। वह तो समस्त प्राणियो की जय मे ही अपनी जय समझता हे। सभी पर उसकी समताभरी दृष्टि होती हे।

मेरे कहने का निष्कर्ष यही हे कि सर्वोदयवाद के महत्त्व को समझे और परमात्मा की जय बोलने में सब प्राणियो के साथ साम्यदृष्टि को अपनाए। वेभव ओर शरीर आदि सब नश्वर हें, एक दिन नष्ट हो जायेंगे और साथ रह जायेगा वही, जो-कुछ किया ह। समाज की सघर्षमय विषमता

को मिटाने के लिये शोषण का हमेशा के लिये खात्मा कर दिया जाये। इसके लिये अपनी वासनाओं और आवश्यकताओ को सीमित करना चाहिये और अपने वैभव का अमुक हिस्सा दानादि शुभ कार्यो के लिये निर्धारित किया जाना चाहिये। समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझे, सबसे प्रेम करे। सबकी रक्षा करे, यही सर्वोदयवाद है।

जब तक एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नहीं होगी तब तक समाज मे परस्पर व्यवहार की रीति-नीति समान व सम्यक् नहीं बनेगी। अत आज के युग की माग है कि जैन धर्म के पुनीत सिद्धातो का आचरण किया जाये। उनके आचरण का अर्थ होगा कि आप समानता के अनुभव को हृदय मे जमा ले और समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे उसका व्यावहारिक प्रयोग करे। मानव के मानवोचित सम्यक् कर्तव्यो का पुज ही तो धर्म है जो समाज मे बधुता और ममता की धारा बहाते हुए आत्म-विकास की दिशा मे पराक्रमशाली बनता है।

यही सर्वोदय के विकास का मूलाधार है। इसी ओर लक्ष्य देने और उसके अनुकूल जीवन-व्यवहार करने से सर्वोदय की भावना को सफल बनाया जा सकता है।

जीवन के केन्द्रबिन्दु

जीवन के आचार-विचार इन तीन केन्द्रबिन्दुओ पर आधारित है- अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद। ये तीनो बिन्दु जीवन को पूर्ण बनाने वाली सीढिया हैं।

जैन धर्म का हृदय है- अहिंसा। जैन धर्म में अहिंसा का जो स्वरूप-दर्शन तथा निरूपण किया गया है, वह सर्वाधिक सूक्ष्म है। अहिसा की आराधना के लिए मन, वचन और काया- इन तीनो मे एक साथ शुद्धि की आवश्यकता है। इन तीनो मे अहिंसा वृत्ति के सहज प्रवेश पर ही अहिंसा धर्म का सुचारु रूप से पालन किया जा सकता है। अहिसा का साधन वीरो का है। कायर तो सबसे पहले मानसिक हिसा से ही अधिक पीडित है। ऐसा व्यक्ति मानसिक हिसा से दूसरो को तो गिरा सके या नहीं, किन्तु अपने- आपको तो वहुत गहरे अवश्य ही गिरा डालता है।

परिग्रह की व्याख्या है– मूर्च्छा परिग्रह। पदार्थों का नाम परिग्रह नहीं, उनमे ममत्व रखकर आत्मज्ञान से शून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है। जब जड पदार्थों मे गृद्धि बढती है और प्राणी अपने चेतन तत्त्व को भूलता है, तब उसको परिग्रही कहा जाता है। ममत्व जब मनुष्य के मन मे जागता है तो आत्मा को कलुषित करने वाले सैकडो दुर्गुण उसमें प्रवेश करने लगते हैं। शोषण एव अन्याय की जननी ममत्व बुद्धि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चरित्र और अध्यात्म को भी नीचे गिराती है।

किसी भी वस्तु या तत्त्व के सत्य स्वरूप को समझने के लिए हमे स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) सिद्धान्त का आश्रय लेना होगा। एक ही वस्तु या तत्त्व को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और इसलिए उसमे विभिन्न पक्ष भी हो जाते हैं। अत उसके सारे पक्षो व दृष्टिकोणो की दृष्टि को समझकर उसकी यथार्थ सत्यता का दर्शन करना इस सिद्धात के गहन चिन्तन के आधार पर ही सभव हो सकता है।

सत्य का साक्षात्कार जीवन का चरम साध्य है। जीवन उन अनुभवों व विभिन्न प्रयोगो का कर्मस्थल है, जहॉ हम उनके जरिये सत्य की साधना करते हैं। जीवन के आचार–विचार की सुघडता व सत्यता में व्यक्ति, समाज व विश्व की शाति रही हुई है। अत आज आचार–विचार की उदारता, पवित्रता की प्रेरणा के लिए अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद के सिद्धान्तो को समझने, परखने और अमल मे लाने की आवश्यकता है।

मानव जीवन की विशिष्टता का आधार

❖ ❖ ❖

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणिय जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, सजममिय वीरीय।।

विश्व के समस्त प्राणियो मे मानव जीवन का स्थान सर्वोच्च है, इसीलिये शास्त्रकारों ने भी उसे दुर्लभ कहकर पुकारा है। परन्तु यह गम्भीर विचार का प्रश्न है कि मानव जीवन की यह सारी विशिष्टता किस भूमिका पर टिकी हुई है, क्योकि उसका स्पष्टत ज्ञान होने पर ही किसी वस्तुस्थिति के मूल से लेकर उसके पूर्ण विकासक्रम को पहिचाना जा सकता है। जब भूमिका के विषय में ही अस्पष्ट धारणा हो तो तत्सम्बन्धी विकास और

उपयोगिता की पूरी जानकारी नहीं होगी और जिसका परिणाम हो सकता है– पूर्ण स्वरूप से अनभिज्ञता। मानव जीवन के सम्बन्ध मे भी आज कई गलत धारणाएँ प्रचलित हैं, जिनसे इस जीवन के अमूल्य होने का भान नहीं होता एव उसे उस दृष्टि से सार्थक बनाने के प्रयास नहीं हो सकते।

यहा मानव जीवन के सम्बन्ध मे उन धारणाओ की मीमासा की जा रही है, जिनके कारण मानव जन्म पा लेने पर भी मानवता की प्राप्ति नहीं होती। मानव का रूप मिल जाना एक बात है किन्तु भावनात्मक दृष्टिकोण से मानवता प्राप्त कर लेना कतई दूसरी बात। मानव मे जिन सद्‌गुणो का सद्‌भाव होना चाहिये, यदि वे विकसित नहीं होते, तो मानव जीवन भी पशुवत् ही है।

अगर कोई मानव जीवन की विशिष्टता उसके शारीरिक बल में स्थापित करता है तो यह स्वाभाविक प्रतीत नहीं होगा। क्योकि चिघाडते हुए मदमत्त हाथी, वन–प्रदेश को अपनी भीषण गर्जना से कम्पायमान बना देने वाले सिह और विकराल रूप–धारी अन्य जगली जन्तुओ के समक्ष बेचारे मानव शरीर का बल ही क्या ?

मनुष्य ने यदि अपने रूप और सौन्दर्य में मानव जीवन की विशेषता मान रखी है तो वह भी व्यर्थ है। रूप आखिर क्या है ? यही तो कि मिट्टी के पुतले पर जो रग–रोगन किया हुआ है, वह जो समयरूपी वर्षा की बौछार लगते ही धुल जाता है। तरुणाई मे निखरा हुआ सौन्दर्य चार दिन बाद झुलस जाता है। आज का छलछलाता हुआ रूप का प्याला कल जरा–से काल के झोके से ढुलक जाता है। इसलिये रूप का अभिमान पतन का चिह्न है।

इसके अतिरिक्त परिवार और वैभव से भी मानव जीवन की कोई प्रतिष्ठा नहीं। रावण के विशाल परिवार एव स्वर्णिम लकापुरी के वैभव का क्या कहना ! और क्या कोटि यादव एक दिन भारत के भाग्यविधाता नहीं बने हुए थे ? किन्तु क्या सभी विनाश के विशाल गर्भ मे विलीन होने से वच गये ? नहीं, ऐसा नहीं हो सका।

जीवन के दो पहलू

❖ ❖ ❖

वास्तव मे जीवन एक साधनस्वरूप हे, जिसे किसी निश्चित साध्य के पीछे विसर्जित कर देने मे ही उसकी विशेषता रही हुई है। यदि साध्य तक पहुचने मे साधन शिथिल व अयोग्य प्रतीत होता है तो साधन के प्रति साधक को सचेत होने की आवश्यकता होती है। जीवन का साध्य मुक्ति है जो आत्मा का मूल स्वभाव है। आत्मा को विकारो के मल से मुक्त करके उसी परमशुद्धता मे स्थायित्व ग्रहण करने का नाम मुक्ति है। मुक्ति साध्य, जीवन साधन ओर आत्मा साधक है। साध्य गतिशील नहीं होता, वह तो सुनिश्चित होता है अत उसके प्रति दृष्टि ठहरा कर साधक को अपने साधन काम मे लेने होते हैं। साधक को साधन मे परिवर्तन व शुद्धिकरण भी उसी केन्द्रबिन्दु के अनुसार करने होते हैं। अत हमारे लिये मुक्ति साध्य है, परन्तु उसके साधनो मे विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं। इसी बात को लेकर हमारे जीवन की समस्या पर हमे गहराई से सोचना चाहिये और इस सत्य को समझ लेना चाहिये कि हम अपने जीवन को केसे पथ की ओर अग्रसर करे ताकि हमे अपना मुक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो सके।

अध्यात्मवाद का स्पष्ट मत है कि जो निजात्म को पूर्ण रूप से पहिचान लेता है, उसके लिये मुक्ति का मार्ग आसान हो जाता है। अपने आत्मभावो मे रमण करने से निज की शक्ति का अनुभव होता है और उस अन्तर्शक्ति की अद्‌भुत प्रेरणा से उसमे ऐसा साहस केन्द्रित हो जाता है, ऐसे ज्ञान और क्रिया का सम्मिलन हो जाता हे कि फिर उसके मार्ग की बाधाए नष्टप्राय हो जाती हैं। आत्मरामी होने से अपने जीवन का उत्थान मार्ग तो शोधा ही जाता है परन्तु उसके साथ ही आत्मशक्ति और उसके सचालन का ऐसा दृढ अनुभव होता है कि जिसके द्वारा अन्य आत्माओ के मनोभावो ओर प्रवृत्तियो को समझने का ज्ञान उत्पन्न होता हे। अनुभव ही यथार्थत किसी भी क्षेत्र की गहराई को पहचानने की कसोटी का काम करता और इसी तरह आत्मसाधना की परिपक्वता के फलस्वरूप आत्मा आत्मरामी से अन्तर्यामी वन जाती हे।

पुरुषार्थ करो !

पापपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की बुनियाद मे यह भावना काम कर रही हे कि पुरुषार्थ और श्रम न किया जाय। प्राय हर व्यक्ति यह चाहता है कि वह व्यापार, नौकरी या सट्टा आदि ऐसा व्यवसाय पकड ले कि मेहनत तो कम–से–कम करनी पडे और लाभ अधिक–से–अधिक पैदा हो सके। जब मनुष्य श्रम से दूर भागता है तो उसमे दूसरे की वस्तु छीनने की भावना होती है, क्योकि आवश्यकताओ को तो वह दबाता नहीं, बल्कि किन्हीं अशो मे बढाता है और वैसी स्थिति मे शोषण और मुनाफावृत्ति की नींव जमती है।

विकास की राह पर आगे बढने का यह विशिष्ट उपाय है कि आप लोग स्वावलम्बी बने स्वावलम्बन द्वारा अपने ही पैरो पर खडे होवे। तभी आपको दूसरो से सम्मान भी प्राप्त हो सकता है। ऊपर की चटक–मटक और बाहर के आडम्बर से किसी को क्षणभर के लिए धोखा देकर अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक सरलता व श्रम की भावना के बिना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तरह किसी के हृदय को स्थायी रूप से प्रभावित नहीं किया जा सकता। आडम्बर टिक नहीं सकते, उन्हे स्वप्नो के समान नष्ट होना पडता है। यह तो अपने जीवन के प्रति गहराई से सोचने और समझने की बात है। जो पुरुषार्थी नहीं, उन्हे समाज भले ही क्षणभर के लिए अपनाता दीखे, किन्तु अन्ततोगत्वा वे सब बुरी तरह फेक दिये जाते हैं।

आलसी आदमी ही नाना प्रकार के बहाने बनाते हैं और नाना तरह की युक्तिया देकर अपनी आदतो की पुष्टि करते हैं। 'भाग्य मे जो होगा, वही होगा' यह भी आलस्य की ही मूल भावना हे। भाग्य भी तो मनुष्य का ही बनाया हुआ होता है और इसलिए मनुष्य उसे वदल भी सकता हे। जीवन के ह्रास और विकास मे भाग्य मुख्य नहीं है, पुरुषार्थ ओर श्रम प्रधान कारण हें। परिश्रम से दूर भागने वाले अधिकतर भाग्य की दुहाई देकर अपनी आलस्यवृत्ति को छिपाना चाहते हैं। साहस के साथ आगे बढने वाले भाग्य को नहीं देखते, वे तो एकमात्र कर्तव्य पर अपना अधिकार समझते हें और कर्तव्य की एक निष्ठा तथा पुरुषार्थी प्रतिभा से भाग्य के वहाव को भी मोड देते हैं। भाग्य ओर पुरुषार्थ की टक्कर मे पुरुषार्थ की ही विजय होती है।

आलस्य दुःख और पौरुष सुख

❖ ❖ ❖

मैं कई बार सोचता हू ओर इस निर्णय पर पहुचता हू कि मनुष्यो का जीवन स्वावलम्बी बने और वे पुरुपार्थ से अपना जीवन–निर्वाह करने मे स्वतत्र हो, तब ही वे सही रूप मे धर्म का पालन कर सकते हें ओर साधु भी अपनी साधना मे शुद्धि बनाये रख सकते हें।

सभी खराबियो व बुराइयो का मूल आलस्य हे। पुरुषार्थ करने की शक्ति होते हुए भी जो आलस्य मे माग खाते हें, उनकी भिक्षा पौरुषहरी भिक्षा है। आज मैं आपसे प्रश्न करू कि भारत के लोग इतने आस्तिक हैं, फिर भी इतने दुखी क्यो हैं ? इसकी तह मे उतरे तो यही पायेगे कि दूसरो के पसीने पर गुलछर्रे उडाने की भावना ने घर कर लिया है, पर यह सबसे बडा पाप हे। दुनिया मे सभी पापो की जड आलस्य है। अधिकाश चोरिया, लडाइया व अन्य नैतिकता के कार्य भी इसी आलस्य के कारण ही होते हैं।

जिस तरह मस्तिष्क की मशक्कत के लिये ज्ञान व विचार की आवश्यकता हे, उसी तरह शरीर–स्वास्थ्य के लिए शारीरिक श्रम भी जरूरी हे। शरीर–श्रम के बिना मस्तिष्क की गति भी सुस्थिर नहीं रह सकती। इस तरह शरीर–श्रम की सबके लिए अनिवार्यता समाज मे एक महत्त्वपूर्ण स्थिति है। जैसे शरीर मे रक्त सचरण वद हो जाये तो लकवा होता है या हार्टफेल, उसी तरह सबके शारीरिक श्रम न करने से समाज मे भी एक तरह का पंगुपन पैदा होने लगता है।

आलसी आदमी ही नाना प्रकार के बहाने बनाते है और नाना तरह की युक्तिया देकर अपनी आदतो की पुष्टि करते हैं। 'भाग्य मे जो होगा वही होगा' – यह भी आलस्य की ही मूल भावना है। भाग्य भी तो मनुष्य का ही वनाया हुआ होता हे और इसलिए मनुष्य उसे बदल भी सकता है। जीव के हास और विकास मे भाग्य मुख्य नहीं है, पुरुषार्थ और श्रम प्रधान कारण हैं।

अत मैं फिर दोहराऊगा कि समाज व धर्म के सभी क्षेत्रों मे आगे वढने व सुखी बनने का यह सीधा मार्ग हे कि प्रत्येक व्यक्ति पुरुषार्थी वने। सत्पुरुपार्थ वृत्ति जीवन-विकास की निश्चित सीढी हे।

वर्तमान विश्व की एक झलक

कर्मण्यता की भूमिका पर ही व्यक्ति, समाज व राष्ट्र का उत्थान सम्पादित किया जा सकता है। वैभव और विलास तो पतन के कारण बनते हैं क्योकि विलासिता का दूसरा नाम निकम्मापन भी है। विलासी कायर होता है, वह विपदाओ से लड नहीं सकता और अपनी हीन आसक्तियो से ऊपर नहीं उठ सकता।

क्रोधरूपी कालिय नाग अपने तीव्र विषदन्त से सरल प्राणियो मे कटुता भर रहा है व ससार में अनेक अनर्थ करवा रहा है। तृष्णा रूपी पूतना राक्षसी दूध पिला कर आत्मबल को जैसे मार देना चाहती है। लोग सयम, नियम, नीति से विमुख होकर ऐश्वर्य बढाने की प्रतिद्वन्द्विता मे लगे हैं। भ्रष्टाचार की महामारी–सी फैली हुई है।

अभिमान रूपी कस सारे विश्व को ग्रस रहा है। लोग धन या सत्ताबल पा जाने पर अपने-आपको भूल स्वेच्छाचारिता की ओर मुड जाते हैं एव निर्बलो के अधिकारो को हडपने व उनका शोषण करने मे आनन्दानुभव करते हैं। मोहरूपी जरासध आज अन्याय का कारणभूत हो रहा है क्योकि मोह मे मनुष्य की एकान्त बुद्धि हो जाती है और वह सत्यासत्य के सदविवेक से विमुख होता चला जाता है। लोभरूपी दुर्योधन साधनो को केन्द्रीभूत कर सच्चे हकदारो को भी 'सुई की नोक के बराबर भूमि' देने को तैयार नहीं। लोभ को शास्त्रों मे काल कहा है और यह पाप का बाप भी कहा जाता है क्योकि इसी के वशीभूत होकर मनुष्य अत्यधिक स्वार्थी और हीन स्वभावी हो जाता है।

आज ये सारी कुटिल मनोवृत्तियॉ खुलकर खेलती हुई देखी जाती हैं और ऐसे जटिल समय मे सत्यस्वरूप हृदय मे जगाया जाय और उन कुविचारो एव असदप्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त करने की अमिट शक्ति पैदा की जाय। जीवन के इस विशाल क्षेत्र मे सद्कर्म करते जाइये, निरपेक्ष और नि स्वार्थ होकर तो लौकिक व आत्मिक उत्थानो की मजिल दूर नहीं रहेगी। इसी सन्देश को आज के दिन सब को सुनना ओर समझना चाहिये तभी किसी प्रकार की सार्थकता हो सकती है।

आज की आवश्यकता

यह दु ख का विषय है कि देश मे त्याग की भावना का ह्रास होता जा रहा है। छोड देने की भावना के बजाय ले लेने की भावना का अधिक प्रसार होता हुआ देखा जा रहा है। स्वार्थ का महादैत्य लोगो के हृदयो पर छा गया है और इसीलिये त्याग नहीं, भोग की भावना प्रबल बन रही है। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् ऐसी विकृत अवस्था बनती जा रही है, जिसे सुधारे बिना भारतीय सस्कृति की गौरवान्वित परम्परा का निर्वाह नहीं किया जा सकेगा।

आज चारो ओर देखने से ऐसा लगता है कि कर्तव्य की वृत्ति लुप्त हो रही है और अधिकारो की लोलुपता बढ रही है। परन्तु यह सोचने की बात है कि कर्तव्यो की नेतिक भूमिका पर ही अधिकारो का जन्म होता है। इसमे कोई संदेह नहीं कि धोखा देने वाले 'बकवास' बहुत बढ गये हैं। नेता भी वक्तव्यो पर वक्तव्य देते हैं, योजनाओ के कागजी घोडे दौडाते हैं और देश के महान् विकास का स्वप्न दिखाते हैं। लेकिन समझ मे नहीं आता कि जब त्याग का अभाव हो रहा हे तो किसके सयम ओर नैतिकता के बल पर देश का विकास हो सकेगा ?

इधर जनता भी अधिकार मागती है, अपने कर्तव्यो की ओर नहीं निहारना चाहती। कर्तव्यो ही से अधिकार की प्राप्ति होती है चाहे वे अधिकार नागरिक के हो अथवा शासक के। क्योकि कर्तव्यो का तात्पर्य भी एक दृष्टि से दूसरो की सुख–सुविधा के लिये अपना त्याग करना है– सबके समान सुख के लिये अपने आपको सबमे त्यागमय बना देना है। जब कोई दूसरा एक नागरिक के लिए त्याग करता है, तो वही उसका अधिकार हो जाता हे। एक का कर्तव्य दूसरे का अधिकार होता है। मूल वस्तु तो कर्तव्य है– त्याग हे, जिसके आधार पर सार्वजनिक सुख व कल्याण की भित्ति चिरस्थायी रह सकती हे।

आज के मानव के पीछे स्वार्थ का महादैत्य इस बुरी कदर पडा हे कि उसे अपने कर्तव्यो का भान नहीं रहता। उसे तो भान होता हे अपनी स्वार्थपूर्ति का– फिर भले ही उसमे किसी का कितना ही नुकसान क्यो न होता हो। यही नहीं, गुरुदेव से आशीर्वाद मागा जाता है, परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि वे उसे सुखी बनावे किन्तु आप विचार करे कि वह सुख केसा हो ? क्या आज का मानव अधिकाशत वेसे सुख की कल्पना नहीं करता, जिसकी रचना दूसरा के शाषण के आधार पर निर्मित होती हो ?

और अगर ऐसा है तो वर्तमान मानव के मानस का यह नग्न अन्तर्चित्र बदलना होगा-- उसमे आत्मविकास की प्रकाश रेखाए खींचनी होगी।

आज उस महान् आदर्श को भुलाया जा रहा है कि अपना सब-कुछ निछावर करके भी दूसरो की सहायता करो। यही कर्तव्य है, यह त्याग भी है और यह धर्म भी है।

युग की मांग है

जगत् का प्रत्येक प्राणी अपने जन्म से किन्हीं आशाओ, इच्छाओ व वासनाओ को पालता–पोसता है तथा जीवनभर उनकी पूर्ति हित सघर्ष करता रहता है। मनुष्य इसके पागलपन मे अन्धा हो जाता है तब उसकी जीवन–शाति मे अशाति के भीषण अन्धड आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशात नहीं बनाते बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक–पर–एक तृष्णाए उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति मे मनुष्य हर बुरे–से–बुरा तरीका काम मे लाकर समाज मे शोषण, अन्याय और उत्पीडन की भयकर आग जलाता है।

तृष्णा के इस विषाक्त व्यापक प्रसार के कारण दरिद्रता घर कर गई है। इस दरिद्रता में आज मानवता पिस रही है और पशुता का नगा नाच हो रहा है। अत इस निष्कर्ष पर पहुचना पडेगा कि इस दरिद्रता व दु ख का मूल कारण तृष्णा ही है, जिसकी गुलामी आत्म–हित व पर–हित घातक है। किन्तु इसके विपरीत तृष्णा को जो अपनी दासी बना लेता है, ससार उसका दास हो जाता है।

स्वेच्छापूर्वक तृष्णा का त्याग करके सादगी को अपनाने वाला ही महापराक्रमी होता है। प्राप्त साधनो का व्यापक लोकहित के लिये परित्याग कर देने मे ही त्याग की वास्तविक महत्ता रही हुई है। आज विश्व को भौतिकवादी क्रूरता से मुक्त होने के लिये तृष्णा–त्याग, मानव–प्रेम और विश्व–बन्धुत्व की आवश्यकता है, जो मानव–समाज मे समता व बन्धुता का वातावरण प्रसारित कर सके।

यह करना ही होगा

❖ ❖ ❖

आज मनुष्य को अपने दुख और पतन के कारण ढूढने ही होगे, क्योकि अपने हिताहित का भान रखने की भी एक सीमा होती है ओर उससे आगे निकल जाने पर तो पतन से निकल आने की सभी सभावनाए शिथिल हो जाती हैं। आज ससार की गति भी तेजी से उसी सीमा के समीप सरकती जा रही है और यदि इस समय सम्यक् चेतना और सजगता का प्रसार नहीं किया गया तो ससार महापुरुषो की प्रदत्त विचार–निधि को खोकर असभ्यता और असस्कृति के अन्धकार में भटकता ही रह जायेगा।

आज चारों ओर देखने से ऐसा लगता है कि कर्तव्य की वृत्ति लुप्त हो रही है और अधिकारो की लोलुपता बढ रही है। परन्तु यह सोचने की बात है कि कर्तव्यो की नैतिक भूमिका पर ही अधिकारो का जन्म होता है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि धोखा देने वाले बकवास बहुत बढ गये हैं, नेता भी वक्तव्यो पर वक्तव्य देते हैं।

आज के मानव के पीछे स्वार्थ का महादैत्य इस बुरी कदर पडा है कि उसे अपने कर्तव्यो का भान नहीं रहता, उसे तो भान होता है अपनी स्वार्थपूर्ति का– फिर भले ही कितना ही नुकसान क्यो न होता हो ?

समाज का तथ्यात्मक वातावरण पुकार–पुकार कर कहता है कि आज अपने जीवन मे त्याग का सर्वोदय करने की आवश्यकता है ताकि स्वार्थो का भीषण अन्धकार कट जाये। आज न तो सिर्फ बाह्य वेश–रूप त्याग का ढोग या पाखण्ड चलेगा ओर न त्याग को किसी सीमित दायरे मे बद रखा जा सकेगा, उसे तो सब ओर प्रसारित कर देना है।

जहां सुमति......

❖ ❖ ❖

विश्व की समस्त समस्याओ का, चाहे वे किसी भी क्षेत्र की हो, मूलत एक ही हल है और वह है बौद्धिक तथा नैतिक। राजनीतिक व आर्थिक समस्याए समाज–विकास में बाधक अवश्य बन सकती हैं, किन्तु बौद्धिक

परिपक्वता व नैतिक सहृदयता के अभाव मे उक्त समस्याओ का हल भी समाज मे सच्चे सुख व स्थायी शान्ति की सृष्टि नहीं कर सकता। पूर्ण स्वतत्रता एक–एक व्यक्ति के अपने कर्तव्य व अधिकारो के प्रति विवेकपूर्ण ढग से सजग होने में ही उपलब्ध हो सकती है। जब तक वुद्धि का अभाव व उसकी विकृति का अस्तित्व रहेगा, समाज मे शोषण, उत्पीडन तथा अन्याय की समाप्ति असभव है।

सम्पत्ति की प्राप्ति सुमति पर निर्भर है। वह सम्पत्ति चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, लेकिन दोनों की प्राप्ति का उद्देश्य बनाने से पहले यह सोच लेना चाहिये कि अगर सुबुद्धि से– विवेक से काम नहीं लिया गया तो आध्यात्मिक सम्पत्ति तो मिल ही नहीं सकती और एक बार भौतिक सम्पत्ति घातक तरीको से मिल भी गई ता वह टिक नहीं सकती एव बडे बुरे परिणाम दिखाकर खत्म हो जायगी।

आज चारो ओर दिखाई देता है कि अधिकतर सम्पत्तिप्राप्ति (भौतिक) की दौड लगी हुई है, किन्तु पहले सुमति प्राप्त हो– इसकी ओर बहुसख्यकजनों का लक्ष्य नहीं है। बल्कि सम्पत्तिप्राप्ति मे कुमति से ही अधिक काम लिया जाता है और उसका परिणाम आज समाज मे फैली अनैतिकता, असमानता व अव्यवस्था मे देखा जा सकता है। जो सम्पत्ति कुमति से प्राप्त की जाती है, वह कभी भी शान्तिदायक नहीं हो सकती, वरन् वह तो अन्त मे कभी–कभी विनाश का कारण हो जाती है।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ कि सारे ससार की आधारगत समस्या बौद्धिक व नैतिक है, सुमति सपादन मे ससार का विकास समाया हुआ है। मति बौद्धिकता की ओर इगित करती हे तथा उसके पहले लगा हुआ 'सु' नैतिकता को सम्मिश्रित करता है अत 'सुमति' ही मूल समस्या है और यदि हमको हमारा निज का भविष्य और समाज का भविष्य उन्नत व आदर्श बनाना है तो हमे सुमति–सम्पादन करने में लग जाना चाहिये ताकि इस कलियुग के स्थान पर सतयुग का निर्माण किया जा सके।

सुमति-प्राप्ति का सरल साधन

❖ ❖ ❖

विकास की मूल आधारशिला सुमति श्रेष्ठ बुद्धि पर टिकी हुई है तथा प्रयोजन का निर्धारण व निर्णय सदैव बुद्धि की भूमिका पर ही होता है। इसलिये अगर बुद्धि 'सु' हुई तो वह गति को विकास–पथ की ओर मोड देगी तथा बुद्धि की मलिनता व कुत्सितता जीवन को पतन के गड्ढे की ओर ढकेलती हैं। इस दृष्टिबिन्दु से सुमति जीवन की प्रगति की प्रमुख साधिका होती है।

अब यह देखना जरूरी है कि ध्येय की तरफ अग्रसर कराने वाली 'सुमति' की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ?

भवरा सदैव फूलो की सुवास की ओर ही मुडता है, वैसी ही तन्मयता सुमति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। परन्तु ऐसी तन्मयता नियमित एव व्यवस्थित जीवनक्रम से ही प्राप्त हो सकती है।

नियमितता का मूलमन्त्र है कि प्रत्येक कार्य को यथासमय सम्पन्न कर लिया जाय। अगर इस कथन को पूर्णतया हृदयगम कर लिया जाय तो दिशासूचक यन्त्र की सुई की तरह जीवन के कठिन क्षणो मे भी अपने लक्ष्य के प्रति सफल सकेत करता रहेगा।

नियमित व व्यवस्थित जीवन का यह अवश्यभावी प्रभाव होता है कि विकास का प्रवाह सुयोग्य विचारो के साथ स्वयमेव ही फूट पडता है। किन्तु इस स्थिति के अभाव ने आज चारो ओर विकृति की काली छाया फैला रखी हे।

समय का सर्वोत्तम उपयोग करने वाला व्यक्ति ही अपनी सच्ची प्रगति साध सकता है।

तात्पर्य यह है कि जीवन को नियमित व व्यवस्थित रखने वाला व्यक्ति विकास की तरफ आगे–आगे कदम बढाता रहता है।

इसलिए मैं यही कहना चाहूगा कि आप समय को व्यर्थ मे न गुमावे तथा उसे अपने जीवन को नियमित व व्यवस्थित करने में लगावे ताकि आप अपने अन्तर का सम्यक् अवलोकन कर सके।

यह कभी न भूलें

ससार के वर्तमान गतिक्रम पर नजर डाली जाय तो दिखाई देता है कि किन्हीं अशो मे आज कस की वृत्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। सासारिक वैभव को प्राप्त करने की कुटिल होड–सी लगी हुई है, जिसमे अपनी प्रवृत्तियो के न्याय–अन्याय का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। यह सोचना कर्तव्य की सीमा के अन्दर ही नहीं समझा जा रहा है कि जो-कुछ अर्जन व प्राप्त किया जाता है, काश, वह न्याय से उपलब्ध हुआ है या अन्याय से ? इसी का फल है कि भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी आदि अनेक असामाजिक प्रवृत्तिया समाज व देश के नैतिक स्तर को निरन्तर नीचे गिरा रही हैं। पिता–पुत्र और भाई–भाई तक इस दौडधूप मे अपने कर्तव्यो को भूल रहे हैं, तो अपने करोडो राष्ट्रबन्धुओ के हितो की ओर ध्यान देना तो कठिन प्रतीत हो ही सकता है।

आज यह देखने की जरूरत है कि भोग–पिपासा की क्रूर अन्धता मे ससार के निर्बल एव असहाय प्राणी पिसे जा रहे हैं। जिस प्रकार कस ने अपनी शक्ति का उपयोग पिता की सेवा व जनता की रक्षा मे न करके सिर्फ अपने स्वार्थो व अह की पूर्ति मे किया, उसी तरह आज भी समाज के अधिकतर लोग व्यवहार करते व उसी मे सुखानुभव समझते देखे जाते हैं। फलस्वरूप चारो ओर शोषण एव उत्पीडन के कारण त्राहि–त्राहि–सी मची हुई है।

इस अवसर पर यह तथ्य मनन किया जाना चाहिये कि अन्यायोपार्जित वैभव स्थायी रहने वाला नहीं है। जब तक आपका पुण्य फलोदय शेष है, आप कुछ करे– उसके दुष्परिणाम आपके सामने नहीं आते हैं किन्तु इससे यह समझने का प्रयास करना उचित नहीं कहा जा सकता कि आपकी सारी प्रवृत्तिया न्यायानुकूल हैं। प्रकृति मे विलम्ब हो आता है किन्तु उसके नियम का क्रम नहीं टूटता। और तो क्या, चक्रवर्ती, वासुदेव जैसे भी महान् वेभवशाली पुरुष हुए परन्तु उनका वैभव भी यहीं धरा रह गया। मोहम्मद गजनवी ने सत्रह बार भारत–भूमि को पदाक्रात किया व अगणित वैभव लूटा, किन्तु मरते समय तो वही "सब ठाठ पडा रह जायगा, जब लाद चलेगा वनजारा" हुआ। कोई भी उसे मृत्यु से नहीं छुडा सका। वैभव की भूख आखिर जाकर पश्चात्ताप की अग्नि मे झुलसा डालती है। अत बुद्धिमत्ता इसी मे हे कि निज के, समाज के नेतिक स्तर को ऊपर उठाकर जीवन का सत्य–साधनो से सर्वोच्च विकास करने का सत्प्रयास किया जाय।

प्रार्थना की शक्ति

प्रार्थना एक परम पवित्र दैनिक अनुष्ठान है और सभी आध्यात्मिक नेताओ ने इसके महत्त्व को स्पष्ट किया है तथा इसके आचरण पर जोर दिया है।

प्रार्थना मे एक ऐसी विशिष्ट शक्ति है जो हमे श्रद्धाशील बना देती है। उन महान् आत्माओ के गुण-गानो से जिन्होने उत्कृष्टतम शुद्धावस्था रूप परमात्मपद को प्राप्त कर ईश्वरत्व धारण कर लिया है और जो सासारिकता से सर्वथा विमुक्त होकर निजानन्द मे तल्लीन हो गये हैं, प्रभावित होकर हम भी हमारे जीवन के लिये उसी लक्ष्य तक पहुचने की जो आदर्श कामना करते हैं, उसी अपनी आत्मा के प्रति की गई याचना का नाम ही प्रार्थना है। साधारण मनुष्यों की बुद्धि इतनी सूक्ष्म नहीं होती है कि योगी की तरह केवल शास्त्रो मे वर्णित रहस्यपूर्ण जटिल सिद्धातो को समझ कर उनके आधार पर ही अपने विकास का मार्ग शोध निकाले। अत प्रार्थना इसलिए करनी चाहिए और वह भी उसकी दैनिक आदत होनी चाहिये कि उन विशिष्ट विभूतियों का जीवन-स्वरूप अर्थात् उनके आत्म-विकास का मार्ग हमारे मस्तिष्क पटल मे स्पष्ट तौर पर अकित हो जावे। यही जीवन-सत्य प्रार्थना हमारे समक्ष प्रकट करती है।

श्रद्धा और बुद्धि की प्राप्ति हित हम परमात्मा की प्रार्थना करते हैं, किन्तु आत्मा से कहा गया है कि, आत्मा। जब तक तू अर्जुन की तरह एकाग्र होकर लक्ष्य व लक्षी के सिवाय सभी वस्तुओं को अपनी दृष्टि से हटा नहीं लेगी, तब तक निजत्व का उद्धार व पूर्ण विकास करना अवश्य ही दुष्कर रहेगा।

अत सत्य अर्थ में अगर देखा जाय तो परमात्मा की जो प्रार्थना करना है, वह केवल अपने आत्मा 'सोऽह' की ही सजग साधना करना है।

अब हम सीधे अपने मूल विषय पर आते हैं कि आन्तरिक निर्माण के लिये हमारी चेतना मे जो अटूट जागृति पैदा होनी चाहिये और अपार शक्ति का स्रोत फूट पडना चाहिये, वह प्रार्थना के बिना नहीं हो सकता।

सन्त तो इनको कहते हैं

सन्त कैसा होना चाहिये? इसका उत्तर श्री आनदधनजी के शब्दो मे यह है–

परिचय पातक घातक साध शुं रे, अकुशल अपचय चेत।

सन्त वह है जो पातक का घातक हो, आत्मा के समस्त पापो को जिसने धो डाला हो। ऐसा सन्त अपने वचन और व्यवहार से दूसरे के पापो का भी नाश कर देता है।

जो आस्रव से निवृत्त हो गया है, अर्थात जिसने पापो के आगमन के छिद्रो को रुद्ध कर दिया है, जो छल, कपट, दभ आदि पापो से दूर रहता है, जो एकेन्द्रिय प्राणी के वध में भी आत्मवध मानता है और आत्मा के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान है, जो सृष्टि के समस्त प्राणियो को मित्रभाव से देखता है, लाभ–अलाभ मे समभाव रखता है, जो अनासक्ति का मूर्तिमान आदर्श है, सब प्रकार के सासारिक प्रपचों से परे और देहाध्यास से भी अतीत है, जो आत्मरमण मे ही परमाह्लाद की अनुभूति करता है और जिसके लिये सन्मान–अपमान, निन्दा–स्तुति, वदना–तर्जना एक रूप हो गये हैं, वह सच्चा सन्त है।

वह आकाश की तरह उदार, भूतल की तरह क्षमाशील, चन्द्र की भाति सौम्य, सूर्य की भाति तपस्तेज से दीप्त, अग्नि के समान जगत् की अपावनता को भस्म करने वाला और वायु की भाति सतत परिव्रजनशील होता है। उसकी अमृतमयी एक ही दृष्टि भव्य मनुष्य के अन्तर मे व्याप्त वासना-विष को नष्ट कर देती है।

ऐसा सन्त अपनी कलुषता का विनाश तो करता ही है, अपनी सगति में आने वाले जिज्ञासु साधको के भी पापो का अन्त कर देता है।

ससार मे ऐसे सतों का आगमन आज विरल है और जो पुण्यवान उनके समागम से अपना कल्याण कर लेते हैं, वे धन्य हैं, अतिशय धन्य हैं।

अन्य दृष्टि-बिंदुओं पर भी विचार करो

❖ ❖ ❖

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे सारे प्राणी समाज मे एक विशिष्ट व उच्च स्थान प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है स्वय ही और स्वतन्त्रतापूर्वक भी, अत उसका परिणाम स्पष्ट है कि विचारो की विभिन्न दृष्टिया ससार मे जन्म लेती हैं। एक ही वस्तु के स्वरूप पर भी विभिन्न लोग अपनी–अपनी अलग–अलग दृष्टियो से सोचना शुरू करते हैं। यहा तक तो विचारो का क्रम ठीक रूप में चलता है। किन्तु उससे आगे क्या होता है कि एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियो मे सोचकर उसके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नहीं झुकते। जिसने एक ही वस्तु को जिस विशिष्ट दृष्टि से सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वांग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्त्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि ऐकातिक दृष्टिकोण व हठधर्मिता का वातावरण मजबूत होने लगता है ओर वे ही विचार, जो सत्यज्ञान की ओर बन सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव मे विद्वेषपूर्ण सघर्ष के जटिल कारणों के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं। तो हम देखते हैं कि एकागी सत्य को लेकर जगत के विभिन्न विचारक व मतवादी उसे ही पूर्ण सत्य का नाम देकर सघर्ष को प्रचारित करने में जुट पडते हैं। ऐसी परिस्थिति मे स्याद्वाद का सिद्धान्त उन्हे बताना चाहता है कि सत्य के टुकडो को पकडकर उन्हे ही आपस मे टकराओ नहीं, बल्कि उन्हें तरकीब से जोडकर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर सामूहिक रूप से जुट पडो। अगर विचारो को जोडकर देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती व एकागी सत्य के साथ ही हठ को बाध दिया जाता है तो यही नतीजा होगा कि वह एकागी सत्य भी न रहकर मिथ्या मे बदल जायेगा। क्योकि पूर्ण सत्य को न समझने का हठ करना सत्य को नकारा करना है। अत यह आवश्यक है कि अपने दृष्टिबिन्दु को सत्य समझते हुए भी अन्य दृष्टिबिन्दुओं पर उदारतापूर्वक मनन किया जाय तथा उनमें रहे हुए सत्य को जोडकर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टि से देखने की कोशिश की जाय। यही जगत के वैचारिक सघर्ष को मिटाकर उन विचारो को आदर्श सिद्धान्तों का जनक बनाने की सुन्दर राह है।

नवीनता का अर्थ

कल्याण मार्ग की ओर आगे बढने से ही जीवन मे नवीनता का उद्‌भव हो सकता ह। क्योकि जागतिक विकृतियो में फस कर आत्मा अत्यधिक जीर्ण–सी बन गई है। उसमे नवीनता लाने के लिये शास्त्रीय, सनातन व सत्यरूपी जीवनौषधि की आवश्यकता है। जहा जीवन मे सम्यग् गति नहीं, वहा वैचारिक नवीनता नहीं, तो वैसा जीवन जीवन नहीं, उसे मृत्यु का दूसरा नाम कह सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि नवीनता के प्रति आर्कषणवृत्ति मनुष्य के हृदय मे सलग्न क्यो है ? जीवन मे इस वृत्ति से क्या लाभ भी है ?

यह वृत्ति इस बात की परिचायिका है कि शुद्ध आत्मज्योति आर्कषण का केन्द्रबिन्दु बनती है, जिससे मनुष्य स्वय सोचता है, जानता है, सीखता है और स्व–पर के लिये वस्तुत कार्यक्षेत्र निर्धारित कर सकता है। मनुष्य इसी पवित्र शक्तिस्रोत के बल पर अपने स्वतन्त्र मस्तिष्क, स्वतन्त्र व्यक्तित्व के शुद्ध आचरण की अनुभूतियो द्वारा जीवन–निर्माण कर सकता है।

अत जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हो, शुद्ध–सयमी जीवन् की उपयोगिता के लिये समाज व व्यक्ति मे जीवन का सन्देश फूकने वाले हों, उन्हे बहुत वर्षों के बने हुए होने पर भी नवीन समझना चाहिये।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिये ग्रहण करनी चाहिये और नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरो पर प्रकट करना चाहिये, तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है।

समय तेजी से बदलता और बढता जा रहा है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमत्ता इसी में है कि सही नवीनता–आत्म–ज्योति के महत्त्व को हृदयगम करके आज का मानव सही प्रगतिशीलता की ओर गति करने मे पीछे न रहे।

महावीर का स्वाधीनता-सन्देश

महावीर ने जो कहा, पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी मे कर्मठता का ओज व भावना का उद्रेक दोनो हैं। हिंसा के नग्न ताडव से

सन्तप्त एव शोषण व अत्याचार से उत्पीडित जनता को दु खो से मुक्त करने के लिये भगवान महावीर ने स्वय अहिसा धर्म की प्रव्रज्या लेकर अहिंसा की क्रातिकारी तथा सुखकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर–पिशाचो को प्रेम, सहानुभूति, शाति एव सत्याग्रह के द्वारा उन्होने स्वाधीनता का दिव्य–पथ प्रदर्शित किया।

माया–सग्रह रूप पिशाचनी के कराल जाल मे फसे हुए मानवों को उन्होने पथभ्रष्ट विलासिता के दलदल से निकाल कर निर्ग्रन्थ अपरिग्रहवाद का आदर्श बताया। उन्होने स्वय महलो के ऐश्वर्य व राजसुख का त्याग कर निर्ग्रन्थ साधुत्व को वरण किया तथा अपने सजीव आदर्श से स्पष्ट किया कि भौतिक पदार्थों के इच्छापूर्ण त्याग से ही आत्मिक सुख का स्रोत फूट सकेगा। क्योकि ग्रन्थि (ममता) को ही उन्होने समस्त दु खो का मूल माना, चाहे वह ग्रन्थि जड द्रव्य–परिग्रह मे हो, कुटुम्ब, परिवार मे हो या काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनोविकारो मे हो– यह ग्रन्थि ही कष्टो का सृजन करती है। इसीलिए महावीर ने दृढता से आह्वान किया–

पुरिसा, अत्ताणमेव अभिणिगिज्ज एव दुक्खा पमोक्खसि।

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयो (काम–वासनाओ) की ओर जाने से रोको, क्योकि इसी से तुम दु खमुक्ति पा सकोगे।

समस्त जैन दर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है। परिग्रह के ममत्व को काटकर सग्रहवृत्ति का जब त्याग किया जायेगा तभी कोई पूर्ण अहिसक और स्वाधीन बन सकता है। ऐसी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना ही जैन धर्म का मूलभूत ध्येय है। स्वाधीनता ही आत्मा का स्वधर्म अथवा निजी स्वरूप हे। मोह, मिथ्यात्व एव अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा अपने मूल स्वभाव को विस्मृत कर देती है ओर इसीलिए वह दासता की शृखलाओ में जकड जाती है।

स्वाधीनता का सही अर्थ

❖ ❖ ❖

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है– सम्पूर्ण भौतिक पदार्थो एव भोतिक जगत से सम्बन्ध विच्छेद करना। अतिम श्रेणी में शरीर भी उनके

लिए एक बेडी है, क्योकि वह अन्य आत्माओ के साथ एकत्व प्राप्त कराने मे बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिए अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन को ही अपना मानता है, सबके सुख–दुख मे ही स्वय के सुख–दुख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना मे स्वय की चेतना को सजो देता है। एक शब्द मे कहा जा सकता है कि वह अपनी व्यष्टि को समष्टि मे विलीन कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारो के लिए रोता नहीं, वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यो के कठोर पथ पर कदम बढाता हुआ चलता जाता है।

फल की कामना से कोई कार्य मत करो, अपना कर्तव्य जान कर करो, तब उस निष्काम कर्म मे एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूर्ण समाज पर विशुद्ध एव स्वस्थ प्रभाव पड सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरो के हृदय मे विश्वास पैदा नहीं करता, क्योकि उसमे स्वार्थ की गध होती है और सिर्फ स्वार्थ, परार्थ का घातक होता है। स्वार्थ छोडने से परार्थ की भावना पैदा होती है और तभी आत्मिक भाव जागता है। इसी पथ पर आगे बढो, ताकि आत्म–विकास की सच्ची स्वतत्रता प्राप्त की जा सके। इसीलिए बधुओ, प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की आन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेगे।

स्वतंत्रता का सन्देश

स्वतत्रता ही मानव–जीवन का चरम उद्देश्य है। जो स्वतन्त्र हो जाता है, वही विजेता है, क्योकि विजय का परिणाम ही स्वतन्त्रता के रूप मे प्रकट होता है और जहा विजय है, वहा पराजितो का झुकना और वैभव–सम्पन्नता अवश्यम्भावी हैं।

आज 'स्वतन्त्रता' शब्द का हमने बहुत ही सकुचित अर्थ मान रखा है। स्वतन्त्रता की पूर्णोज्ज्वल ज्योति जहा चमकती है, वह स्थान है आत्मिक स्वतन्त्रता का। जब तक मनुष्य निज की मनोवृत्तियो को नहीं समझ पाता और उनकी सही प्रगति–दिशा का निर्धारण नहीं कर सकता वहा आत्मा का पतन है और आत्मा के गिरने पर कभी भी सच्ची ओर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

पूर्ण स्वतन्त्रता की राह पर आगे बढने के लिये यह आवश्यक है कि हम सुख और दु ख के रहस्य को समझे। यह सुनिश्चित तथ्य है कि ससार का प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है और दु ख से व्याकुल होता है। इसी प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक प्राणी अपने समस्त प्रयासो को भी इसी दिशा मे नियोजित करना चाहता है कि उसे उनसे सुख ही सुख प्राप्त हो। परन्तु फिर भी यदि हम चारों ओर दृष्टिपात करे तो विदित होगा कि ससार के बहुसख्यक प्राणी दु खी हैं। अत जब भी विचार करते हैं, यही सनातन प्रश्न मुह बाये सामने खडा रहता है कि ससार मे इतना दु ख क्यों है ?

सुख और दु ख का अनुभव विशेष रूप से मनुष्य के हृदय- निर्माण पर निर्भर करता है। दु ख मे मनुष्य यदि सही रूप से सोचे तो विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

इस सिलसिले मे आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सुख और दु ख की काल्पनिक अनुभूति के परे ही आत्मानन्द का निवास है एव जब आत्मानन्द का सचार होता है, तभी पूर्ण स्वतन्त्रता की मजिल का चमकता हुआ सिरा दिखाई देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब आत्मा सदैव आनद ही आनन्द में रमण करेगी तो उसमें अपने विकारो, अपनी वासनाओ से लडने की एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जायगी और उस शक्ति के सहारे ही आत्मा के शत्रुओ को झुका दिया जा सकेगा। दासता की काली छाया हटेगी तथा मानस में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रकाश फैलेगा। वही प्रकाश विजेता का साम्राज्य होता है और वही प्रकाश उसकी वैभवसम्पन्नता है जो उसे त्रिभुवन का स्वामित्व प्रदान करती है। बन्धुओ ! इसी प्रकाश को पाने के लिए हमे सुख और दु ख के वास्तविक रहस्य को समझकर अपने जीवनपथ का निर्माण करना चाहिये।

स्वतन्त्रता का आशय

प्रधान साध्य सत्य का साक्षात्कार करना है, जिसके प्रकाश मे जीवन का कण–कण आलोकित होकर चरम विकास को प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए जेन दर्शन के सभी सिद्धान्त साधन रूप बनकर उक्त साध्य की ओर गमनशील बनाते हैं। इनमें भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रमुखता न देकर आध्यात्मिकता को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। क्योकि समस्त

प्राणीसमूह की सेवा के लिये यह अनिवार्य है कि सासारिक प्रलोभनो को छोडकर आत्मवृत्तियो का शुद्धिकरण किया जाये, जिसके बिना इस अनवरत सघर्षशील जगत के बीच स्व–पर कल्याण सम्पादित नहीं किया जा सकता। सक्षेप मे जैन दर्शन विश्वशाति के साथ–साथ व्यक्तिशाति का भी मार्ग प्रशस्त करता है।

यदि इस सिद्धान्त को विभिन्न क्षेत्रो मे रहे हुए ससार के विचारक समझने की चेष्टा करे तो कोई सन्देह नहीं कि वे अपनी सघर्षात्मक प्रवृत्ति को छोडकर, एक–दूसरे के विचारो को उदारतापूर्वक समझकर उनका शान्तिपूर्ण समन्वय करने की ओर आगे बढ सकेगे।

विश्वशाति का प्रश्न धर्म, सभ्यता व सस्कृति के विकास तथा समस्त प्राणियो के हित का प्रश्न है। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी क्षेत्र मे कार्य कर रहा हो, इस प्रश्न से अवश्य ही सम्बन्धित है। इस प्रश्न की सही सुलझन पर ही मानवता की वास्तविक प्रगति का मूल्याकन किया जा सकता है और विश्वशाति की नींव को मजबूत करने का आज की परिस्थितियो मे सबसे प्रमुख यही उपाय है कि चारो ओर फैला हुआ विचारों का विषैला विभेद शात किया जाये।

पर्युषण : स्वाधीनता का महापर्व

❖ ❖ ❖

राजनीतिक स्वाधीनता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्वाधीनता है– आध्यात्मिक स्वाधीनता। हम वस्तुत आत्मा हैं, अतएव आत्मिक दृष्टि से अगर हमे स्वाधीनता प्राप्त हो तो ही हम पूर्ण स्वाधीन कहला सकते हैं।

स्वतत्र का अर्थ है अपने पर आप ही शासन करने वाला। जिस पर किसी दूसरे का शासन न हो, वही वास्तव मे स्वतन्त्र है। अगर आपके शरीर पर, बुद्धि पर और मन पर पूरी तरह आपका ही शासन है और इन्हे आप अपनी इच्छा के अनुसार सचालित कर सकते हैं तो आप स्वतन्त्र हैं, अन्यथा नहीं।

अगर आपने स्वाधीनता के मर्म को समझा है, धर्म के स्वरूप को जाना है तो आपका जीवन विराट् होना चाहिये।

जिस देश की प्रजा अपने लोकोत्तर एव लौकिक धर्म का श्रद्धा के साथ पालन करती है, राग–द्वेष का त्याग करके प्रीतिभाव रखती है। वही

स्वाधीनता का चिरकालपर्यन्त उपभोग कर सकती है। वही स्वाधीनता साकार होती है। यही कल्याण का मार्ग है। यही परमात्म–प्राप्ति का मार्ग है। जो इस मार्ग पर चलेगा, उसका कल्याण होगा।

प्रकाश का सन्देश

दीपमालिका ! अमावस के अन्धकार को चीर कर झिलमिलाते हुए अगणित दीपक मानो यह सन्देश देते हैं कि घनी विपदाओं और निराशाओ के बीच भी साहस व त्याग के ऐसे दीपक जलाओ कि आत्मविकास का पथ प्रकाशमय हो जाये।

दीपमालिका ! अपने नन्हे–नन्हे दीपो की ज्योति से उस प्रकाश की झलक दिखाती है, जिसका विस्तार प्रेम, अहिंसा, सेवा और त्याग के विकास पथ पर फैला रहता है। वह प्रकाश की झलक, जिसका अनुकरण करती हुई आत्म–लक्ष्मी का पदार्पण होता है। ये दीप उस प्रकाश के प्रतीक कहे जायें जो प्रकाश अन्तरात्मा से उत्पन्न होता है और घनीभूत होता हुआ एक दिन परमात्मरूप मे परिवर्तित हो जाता है।

दीपमालिका के इन दीपों की ज्योतियो मे•आत्मविजय की लक्ष्मी मुस्कराया करती है। दीपकों के अन्तर में निहारो, ज्योति मे गहराई से प्रवेश करो तो दिखाई देगा कि पतन और अन्धकार के समुन्दरी तूफान मे जीव–नौका को विकास का मार्ग दिखाने वाले अन्तर्दृष्टि के ऐसे दीप आत्मा के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम कर रहे हैं।

अत दीपमालिका का पहला आयोजन होना चाहिए– जीवन की स्वच्छता और सजावट का। भावनामय जगत इस प्रकार स्वच्छ व सम्यक्प्रकारेण सुसज्जित हो कि मानसिक विकारो के विनाश के साथ साथ सद्विचारो का निर्माण भी हो। इसमें सफल बनने के लिए निर्लेपता तथा शुद्ध, कठोर कर्मठता दी अधिक आवश्यकता होती है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

आज दीपमालिका है। अमावस के अन्धकार को चीरकर झिलमिलाते हुए अगणित दीपक मानो यह सन्देश देते हैं कि घनी विपदाओ और निराशाओ के बीच साहस व त्याग के ऐसे दीपक जलाओ कि आत्म–विकास का पथ प्रकाशमय हो जाय।

यह ठीक हे कि दीपको की माला से बाह्य प्रकाश तो होता ही है किन्तु इन छोटे–छोटे मिट्टी के लघु दीपो को अन्तर्जगत् का प्रतीक मानकर आत्मक्षेत्र को ज्योतित करना चाहो तो इस दीपमालिका के पर्व का सच्चे दिल से भावनात्मक स्वरूप पहचानने का प्रयास किया जाना चाहिए।

दीपमालिका अपने नन्हे–नन्हे दीपो की ज्योति से उस प्रकाश की झलक दिखाती है, जिसका विस्तार प्रेम, अहिसा सेवा और त्याग के विकास–पथ पर फैला रहता है। वह प्रकाश की झलक, जिसका अनुसरण करती हुई आत्म–लक्ष्मी का पदार्पण होता है। इस पर्व की ऐतिहासिक आधारशिला भी बताती है कि ये दीप उस ज्योति से जल रहे हैं, जिसके लिये विश्व की महान् विभूतियो ने अपने आदर्शो का स्नेहदान दिया है– नया प्रकाश फैलाया है।

अत दीपमालिका का पहला आयोजन होना चाहिए– जीवन की स्वच्छता और सजावट का। आपका भावनामय जगत इस प्रकार स्वच्छ व सम्यक्प्रकारेण सुसज्जित हो कि मानसिक विकारो के विनाश के साथ–साथ सद्विचारो का निर्माण भी हो। तदनन्तर आपके वचन और आपके कार्य शुद्धिकृत व नवसज्जायुक्त मन के अनुरूप ढलने लगेगे। इस तरह के व्यक्तिगत जीवन के निर्माण का अभाव होगा कि उस पवित्र सम्पर्क से समाज मे भी उस वातावरण की रचना हो सके– ऐसी प्रेरणा मिलेगी। जितना बाहरी स्वच्छता और सजावट का कार्य आसान है, उतना ही आतरिक एव सामाजिक स्वच्छता व सजावट का कार्य कठिन है। अत इसमे सफल बनने के लिए निर्लेपता तथा शुद्ध, कठोर कर्मठता की अधिक आवश्यकता होती है।

अत आज के पर्व–दिवस का कर्तव्य है कि इन लघुदीपो की पृष्ठभूमि मे महापुरुषो के दिव्य–चरित्र का पुनीत स्मरण किया जाय और इस मगलपर्व के जागृत सन्देश को इस रूप मे हृदयगम करने का शुभ प्रयास किया जाय कि जिस तरह उन विश्वविभूतियो ने त्याग सच्चे प्रेम और सेवा के पथ पर चलकर अपनी अडिग अकर्मण्यता का परिचय दिया और निज

के साथ–साथ जगत् के जीवन को प्रकाशित किया, उसी तरह आप भी सत्कर्मठ कर्मण्यता का व्रत ले ओर अपनी समस्त सत्शक्तिया लगाकर निज के एव समाज ओर धर्म के क्षेत्र मे प्रगतिशील तथा प्रकाशमान नवीनता का सचार करे।

जीवन का बसन्त

जीवन मे ऊचे–से–ऊचा विकास सभव है और कोई भी लक्ष्य असभव नहीं है। जीवन के ऊबड–खाबड रास्तो पर जब कोई पथिक पग बढाता है और उस समय भयकर प्रतिकूलताए अगर उसके कदमो को डगमगा दे तो वह स्थिति परिस्थितियो की दासता के रूप मे देखी जायगी। जीवन मे सफलता उस पथिक को मिलती है जो मजबूत कदम बढाता हुआ हर प्रतिकूल परिस्थिति को सभव बनाता हुआ आत्म–विकास के लक्ष्य की ओर अग्रसर होता चला जाता हे। ऐसी ही अवस्था मे जीवन का बसन्त खिलता है, जिसके पत्र–पल्लवो की हरीतिमा आत्म–सुख की अनुभूति देती है, पुष्पो की मधुरिम सौरभ आचार एव विचार–वैभव को सुवासित बना देती और वासन्ती बहार त्याग की भावनाओ को उभार देती है।

जीवन मे प्रस्फुटित होने वाले ऐसे 'नव–बसन्त' का अभिनन्दन करने के लिये आपको अपने सामाजिक जीवन की भी कायापलट करनी पडेगी तब मिथ्या और आत्मघातक सामाजिक रुढियो का दाह–सस्कार इसलिये आप जरूरी महसूस करेगे कि ऐसी मनोवृत्तिया सदेव प्रगतिपथ को अवरुद्ध करती हैं। आप चाहे कि अधोगति मे ले जाने वाले सडे–गले कुसस्कारो, मिथ्या रीति–रिवाजो एव खतरनाक अन्धविश्वासो को भी अपने दैनिक जीवन से चिपकाये रखो और जीवन मे बसन्त के आगमन का भी आह्वान करो, तो ये परस्पर विरोधी बाते एक साथ केसे चल सकती हैं ? अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष व ऐसे सभी मनोविकारो को अपनी प्रकृति से विदा देने पर ही वात्सल्य, प्रेम, नम्रता, विश्वबन्धुत्व तथा स्व–स्वरूपरमण एव अन्य नवीन सद्‌गुणो के अतिथि आपके जीवनरूपी प्रागण मे प्रवेश कर सकते हैं। इनका प्रवेश आत्मा को वसन्तश्री से सुसज्जित कर देगा।

प्रकृति पतझड मे जब सूखे पत्तो को नीचे गिरा देती है तभी बसन्त खिलता है। अत आपके समाज मे हो या साधु समाज मे– विकृतियो की सूखी पत्तियो को झाडना ही पडेगा। एकता और सही विकास की कडी मे बध जाने के लिये अहितकर दाभिक प्रवृत्तियो को त्यागना पडेगा।

जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा

जो कर्म मे शौर्य प्रदर्शित करेगे, वे ही तो आखिर धर्म के विराट् क्षेत्र मे भी साहस ओर सजगता के साथ आगे बढ सकेगे। जहा शौर्यत्व का ही अभाव है, वहा तो ऐसे लोगो की किसी भी क्षेत्र मे अपेक्षा नहीं की जा सकती। कर्मशक्ति से भागने वाला, ससार के अपने पुनीत व नैतिक कर्तव्यो से सहज ही स्खलित हो जाने वाला, धर्म की दुनिया मे भी स्थिरचित्त कैसे बना रह सकता है ?

कोरी कल्पनाए व वाणीविलास किसी भी क्षेत्र मे कार्य की सपन्नता मे सफल नहीं हो सकता। कार्य की सफलता जिस तत्त्व की तह मे निहित है, वह है पुरुषार्थ और उसे जगाये बिना न व्यक्ति जाग सकता है और न ही समाज, बल्कि अन्तरतम का विकास भी इसके बिना साधा नहीं जा सकता।

पुरुषार्थ के लिये कठिनतम कार्य भी असभव नहीं होते और जहा असभावना की विचारधारा ही नहीं, वहा रुकना और गिरना कैसा ? वहा तो निरतर बढते रहना है और बीच मे आने वाली आपदाओ से सफलतापूर्वक लडते–भिडते रहना है। इसी पुरुषार्थ के प्रबल आवेग मे नेपोलियन ने ललकार कर कहा था कि असभव शब्द सिर्फ मूर्खो के कोष मे होना है और उसने किसी अपेक्षा से बिल्कुल ठीक कहा था। अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा के लिये महान से महान कार्य सपादन भी कतई असभव नहीं। पौरुष के आगे हमेशा राह होती है।

कार्यशक्ति कभी असफल नहीं होती। यह एक तथ्य हे किन्तु फिर भी लोगो मे विपरीत वृत्ति देखी जाती है कि वे सुख और आनन्द तो चाहते हैं, मगर काम से घबराते हे, आलस्य की शरण मे अधिक जाते हैं। इस तरह उन्हे सफलता नहीं मिलती क्योकि बिना सतत प्रयासो के वह सभव नहीं।

कर्म के शूर ही धर्म मे भी शूर सिद्ध होते हैं, क्योकि बिना शार्य व पुरुषार्थ के धर्माराधना भी कहा ? प्रमादी व्यक्ति तो कहीं भी सफल नहीं हो

सकता। भगवान महावीर ने इसीलिये स्पष्ट कहा है कि 'समय गोयम, मा पमायए' अर्थात् हे गौतम ! समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर ! छोटा-से छोटा क्षण भी जहा मनुष्य आलस्य से रग देता है वहा उसमे उसके जरिये कुछ-न-कुछ बुराई घुस ही जाती हे।

नवीनता के अनुगामियों से

जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हो, शुद्ध-सयमी जीवन की उपयोगिता के लिये समाज व व्यक्ति मे जीवन का सदेश फूकने वाले हो, उन्हे बहुत वर्षो के बने हुए होने पर भी नवीन ही समझना चाहिये। किन्तु विवेक एव आत्म-ज्योति को भुलाने वाले नवीनता के नाम पर विकारी भाव व स्वार्थ के पोषक नैतिक भावहीन सुन्दर शब्दो मे नवीन बने हुए कितने ही नियमोपनियम हो वे प्राचीन शब्द से कहे जाने चाहिए। उन शब्दो मे समय का मापदड ठीक नहीं हो सकता, किन्तु सयमी जीवन की उपयोगिता का मुख्य महत्त्व होता है।

इस दृष्टि से तत्त्वो का चयन किया जाना चाहिये न कि आज के किन्हीं जोशीले नवयुवको की तरह कि पुरानी सब चीजे त्याज्य हैं, सभ्यता से पिछडी हुई हैं और नई सभ्यता की सारी चीजे ज्यो-की-त्यो अपनानेयोग्य हैं। मैं उन नवयुवको को भी कहना चाहूगा कि दृढाग्रह अलग चीज है और विवेकपूर्ण समझना अलग बात है एव मेरा खयाल हे सही समझ के लिये प्राचीन एव नवीन का ऊपर जो मापदड बताया गया है, वह सभी दृष्टियो से काफी समुचित जान पडेगा।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिये ग्रहण करनी चाहिये और नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरो पर प्रगट करना चाहिये, तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता हे। किन्तु होता क्या है कि कई सुधारक दूसरो के जीवन मे सुधारमय नवीनता लाने के लिए बडा जोर लगाते हैं और अपने जीवन का खयाल कम रखते हें। व्यक्ति अपने जीवन मे कुछ भी न उतार कर दूसरो से कुछ कहे, यह एक प्रभावहीन तरीका हे।

जानो और करो

❖ ❖ ❖

यह साधारण विवेक की बात है कि हम कोई कार्य निष्प्रयोजन नहीं करते। एक स्थान से उठकर दो घर भी कहीं जाना होता हे तो पहले हम सोचते हैं कि यह हमे किसलिये करना है। करने से पहले जो पूर्व विचारणा है, वही ज्ञान है और इसके प्रकाश मे ही हमारा करना सफल हो सकता है। पहले योजना बनाना और फिर उसका अमल करना ही सफलता की कुजी हे। आत्मोत्थान के लिए या किसी कार्य के लिये बिना ज्ञानयुक्त क्रिया के कोई लाभ नहीं। न अधे की तरह इधर–उधर भटकने से कोई प्रयोजन हल हो सकता है, न आखो की रोशनी लेकर एक जगह बैठ जाने से। किसी स्थान पर पहुचना तो तभी हो सकता है कि आखे खोलकर ठीक रास्ते पर आगे बढते जाये। इसके लिये पहले ज्ञान का प्रकाश होना चाहिये ताकि उस उजाले में मार्ग ठीक–ठीक दिखाई दे और ठीक उसी के लक्ष्यानुसार आगे बढा जा सके। 'जानो और करो' का सिद्धान्त ही आनन्द प्रदान कर सकता है।

कतिपय भाई स्वार्थवशात भोली जनता मे शास्त्रविरुद्ध भ्रमणा फैलाने के लिये ज्ञान और क्रिया के सयुक्त महत्त्व पर आघात करते हैं और धर्म एव पुण्य की असबद्ध व्याख्याओ का निर्माण करते हे। भले ही इस प्रकार की व्याख्याओ से पहले भोली जनता को भ्रमित करने मे सफलता मिल जाये लेकिन वास्तविक उत्थान चाहने वाले जब इन सिद्धातो के विषय मे गभीरता से सोचेगे तो उन्हे निश्चय ही सत्य के धरातल पर आना पडेगा।

सही बात यही है

समाज की गति पारस्परिकता पर निर्भर होती है ओर जब यही मानवीय वृत्ति व्यापक होकर समाज के विशाल आगन मे चारो ओर प्रसारित हो जायेगी, तो फिर सभी नागरिक अपने पारस्परिक व्यवहारो मे इस प्रवृत्ति के अनुसार कार्यरत होगे। इसका निश्चय ही यह फल होगा कि कष्टो का उदभव ही खत्म होने लगेगा। एक दु ख नहीं देगा और दूसरे भी दु ख नहीं देगे। इस तरह ही पहले को कभी दु ख का सामना नहीं होगा।

इसलिये यह स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिये कि दु ख दूर करने का यही प्रधान मार्ग है कि हम पहले किसी को दु ख देना छोड दे, क्योकि सामाजिक रचनात्मक कार्य का प्रारभ व्यक्ति से ही सभव हो सकेगा, अगर प्रत्येक व्यक्ति पहले प्रारम्भ की अपेक्षा दूसरे से ही करता रहे तो सामाजिक कार्यो का सपादन दुष्कर क्या असम्भव ही रह जायगा। अत सबसे पहले हम लोग यह सकल्प करे कि हम किसी को कभी किसी तरह की पीडा नहीं पहुचायेगे, कभी किसी को हम से कोई कष्ट हो जायगा तो उसके लिये प्रायश्चित्त करेगे तथा सबकी भविष्य मे सुखप्राप्ति की निरतर कामना करते रहेगे। इस प्रकार की भावना हृदय के सारे कलुष को धोकर उसे दर्पणवत चमकाकर प्रकाशित कर देगी।

इसलिए क्या तो राजनीति मे व क्या अन्य सभी मानवीय नीतियो मे, स्वार्थ–त्याग की धर्ममय नीति का प्रवेश करान की आवश्यकता है। जहा हृदयो मे सकुचितता हे, वहा सुखो का द्वार नहीं खुलता। सुखो के लिये तो हृदयो की उदारता का त्याग के आधार पर अधिक–से–अधिक विस्तार होना चाहिये।

गोपनीयता का परिणाम

❖ ❖ ❖

गोपनीयता सदेव सत्य–विरोधिनी होती हे क्योकि सच्चाई और छिपावट का कोई मेल नहीं। जो बात सत्य है उसे छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं ओर जिस किसी बात को छिपाने की कोशिश की जाती है, उसमे कहीं–न–कहीं झूठ की बू अवश्य मिलेगी।

गोपनीयता से मिथ्यावाद बढता हे और उससे कुटिलता एव कुटिलता से दुष्कृत्यों की एक वाढ–सी आ जाती हे। गोपनीयता की नींव पर अधर्म का महल वन जाता है, जो व्यक्ति के शुद्ध आत्म-तत्त्वो को अपने नीचे गाडे रखता हे।

चूकि गोपनीयता सत्य–विरोधिनी होती है, इसलिए वह अहिंसा की भी विरोधिनी होती है। प्रवचना का परिणाम प्रतिहिसा अधिकतर होता ही हे। क्योंकि उस व्यक्ति को रोष आना व रोष को रोक न पाना मानवीय कमजोरी के अनुसार सभव है।

वुराई से वुराई ही पेदा हो सकती हे और उसकी पेदाइश की परम्परा इस तरह चल पडती है कि अगणित वुराइयो के टेढे–मेढे चक्रव्यूह से वाहर निकलना दुष्वार–सा हो जाता ह। एक वुराई को छिपाने के लिए न जाने

कितनी और बुराइया का आसरा लिया जाता है। छिपाई गई बुराई हमेशा भयकर परिणाम लेकर ही खुलती है।

अत सरलता और सच्चाई का सीधा रास्ता ही यह है कि पहले अकेली बुराई को ही रहस्य बनाकर छिपाये रखने की कोशिश न की जाये तथा विनम्र भाव से उस बुराई को प्रमुख, अपने गुरु अथवा अपने वडील के समक्ष क्षमावनत होकर सबके सामने प्रगट कर दी जाये तो अगली बुराइयो की जडे ही कट जाती हैं।

अत केसा भी क्षेत्र हो, नीति पर बने रहने के लिए सबसे अधिक सरल उपाय यह है कि छिपाने की मनोवृत्ति ही न हो। तभी सत्यपथ पर आत्म–कल्याण साधा जा सकेगा।

विकट समस्या : सरल समाधान

आज साधारणजन के समक्ष बडी विकट समस्या है कि उसका जीवन कैसा हो ? किस प्रकार आवश्यक जीवनोपयोगी पदार्थो को सरलता से उपलब्ध कर वह अपने जीवन को शातिमय, नीतिमय और धर्ममय बना सके ? वस्तुस्थिति यह है कि आज अशाति एव असतोष के वादल मडरा रहे हैं, जिन्होने जीवन के सुखरूपी सूर्य को ढक लिया है।

तो प्रश्न उठता है कि आखिर सुख क्या है ? इसका उत्तर अति गभीरता से विचारने का विषय है। सुख का निवास किसी पदार्थ–विशेष व स्थिति–विशेष मे नहीं है। वह तो अन्तर की प्रगाढ अनुभूति मे ही प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य पदार्थो के समागम से उपलब्ध होने वाला सुख केवल सुखाभास है तथा वह भी क्षणिक है। लेकिन वर्तमान युग मे दुनिया की दोड वाह्य पदार्थो मे ही सुख खोजने मे हो रही है।

किन्तु यह एक नग्न सत्य है कि जब तक जीवन को त्याग की ओर नहीं मोडा जायगा, मानव–जीवन मे शाति एव सुख का सचार होना कठिन हे।

जिन–जिन व्यक्तियो ने त्याग का मार्ग अपनाया है वे ही जनता के श्रद्धेय हो सके हैं, महापुरुष वन सके हैं। महावीर को ही ले लीजिये, वे इसलिये विश्वविभूति नहीं वने कि वे राजपुत्र थे विशाल वेभव व ऐश्वर्य के धनी थे वल्कि इसलिये कि उपलब्ध होने पर भी उन्होने उस सार विशाल वेभव को निर्ममत्व रूप से त्याग कर प्राणी–कल्याणार्थ अपना समग्र जीवन

साधना मे समर्पित कर दिया। हजारो वर्ष बीत जाने पर भी ऐसे महापुरुषो की स्मृतिया भुलाई नहीं जा सकती। उनके दिव्य सन्देश जन–हृदय मे सदैव गुजायमान होते रहते है, उनमे प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

त्याग की भावना ओर त्याग की प्रवृत्ति अपना दुहरा असर डालती हैं। एक ओर तो इनका असर त्यागकर्ता के निज के जीवन पर पडता ही हे दूसरी ओर इस वृत्ति का प्रभाव समूची समाज–व्यवस्था पर भी पडता हे।

व्यक्ति का त्याग समाज मे फैलता है, उसके वैभव का विकेन्द्रीकरण होता ह, विपमता घटती हे और ऐसी स्थिति सामाजिक न्याय एवम् धार्मिक भावना को प्रोत्साहन देती हे। समाज मे उस त्याग के आधार पर एक नया वातावरण भी फैलता है।

सर्व दुःखों की औषधि

❖ ❖ ❖

मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी आत्म–शक्ति को ही प्रज्वलित करे, अपने-आपको अधिकाधिक शिथिल न बनाता जावे क्योकि आत्मा ही आत्मा की बन्धु ओर आत्मा ही आत्मा की शत्रु है अर्थात् अपने उत्थान–पतन का कारण अपनी ही आत्मा है। यह सन्देश आज कितनी प्रेरणा देता हुआ प्रतीत होता हे। जहा हम आत्म–शक्ति की आलोचना ओर दृढता पर डट जाते हैं तव हमारे अन्दर एक विशेष प्रकार का तेज उद्भूत होता हे आर उस तेज के समक्ष अन्याय की बुनियाद पर टिकी हुई दुनिया की कोई शक्ति ठहर नहीं सकती।

अत शोपण–विरोध के किन्हीं साधनो का आश्रय लेने से पहिले यह सोच लिया जाय कि शोषण का मूल कारण शोपितो की मरी हुई आत्माए हे ओर जब तक उनमे जीवन नहीं डाला जायगा, शोषण का स्थायी अन्त कदापि नहीं हो सकता। यदि हिसात्मक साधनो या अन्य ऐसे ही हीन व अशुद्ध साधनो से शोषण को समाप्त करने की चेष्टा की गई तो हानि के अतिरिक्त उससे कुछ भी प्राप्त नहीं होगा, क्योकि यह खतरेभरा रास्ता हे आर माना कि इसमे एक बार सफलता मिल गई, फिर भी शोपण किसी–न–किसी दूसरे रूप मे आकर अपना वसा ही आधिपत्य जमा लेगा।

अभिप्राय यह हे कि आज इस भोतिकवादी सडान से ऊपर उठन की नितान्त आवश्यकता ह जिसके आधार पर महान विग्रह मचे हुए ह आर यह

समझने की जरूरत है कि हमारी स्वय की आत्मा प्रकाशमान है और आनद का मधुर स्रोत है। वाहरी जो सुख हैं, वे केवल हमारी आत्ममूर्च्छा को ही बढाते हैं ओर हमे पतन की राह पर ढकेलते हैं। वास्तविक आनन्द तो इन्द्रियो के क्षेत्र से परे रहता है। आनन्द करने वाली तथा विशेष जिज्ञासु होने के कारण ज्ञानप्राप्ति मे आनन्द लेने वाली आत्मा है और उसी का आनन्द समय ओर वस्तु के प्रभाव से रहित है। जब आत्मा इसी आनन्द की शोध मे तल्लीन होती है, तभी सच्ची शान्ति का अनुभव कर सकती है।

यदि इसको समझ लें !

❖ ❖ ❖

ससार मे सुख की अविरल धारा प्रवाहित करने के लिए यह ध्रुव मार्ग हे कि अगर तुम्हे दु ख नहीं चाहिए तो अपनी ओर से भी किसी को दु ख न दो, किन्तु सुख दो।

इस विचारणा को अगर गम्भीरतापूर्वक समझने की चेष्टा की जाय तो आत्म–स्वरूप के समीप पहुचा जा सकता है। उस समय ऐसी अनुभूति होगी कि अपने दु खो के लिए दूसरो को दोष देना व्यर्थ हे। अगर हम ही अपनी प्रवृत्तियो को सीमित व वृत्तियो को सयमित रखे अर्थात् अपनी ही आत्मा को निकट से समझे व कर्तव्यपथ पर चलावे तो दु खो की सृष्टि ही नहीं होगी, बल्कि निजत्व का विसर्जन कर देने से स्वर्गिक भावो के साथ अमिट सुख का अनुभव होने लगेगा।

वेसे सामने मे यह सिद्धान्त बडा सरल प्रतीत होता है कि दु ख न दो, दुख नहीं होगे, किन्तु अगर आज के अशात व हिंसात्रस्त विश्व मे व्यक्ति व राष्ट्र सही तोर पर इसे आचरण मे लाना प्रारम्भ कर दे तो निश्चय समझिये कि शक्ति एव सुख के नये वातावरण की सुन्दर रचना की जा सकती है। क्योकि आज की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का मूल ही यह है कि दूसरो के दु खो पर कुछ लोगो के सुखो का ससार बसाया जाता हे, जिसका आखिरी परिणाम सबके दु ख के सिवाय कुछ नहीं निकलता।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज विभिन्न राष्ट्रो के बीच भी वनी हुई दिखाई देती हे। जो शक्तिशाली राष्ट्र हैं, वे किसी भी तरह कमजोर राष्ट्रो को अपने कब्जे मे करना चाहते हें।

वर्तमान राष्ट्र अगर दु खवाद के इस रहस्य को समझ जावे और उनके शासक अपनी नीतियॉ सहृदयता व ईमानदारी से बरतने लगे तो कोई कारण नहीं कि युद्धो को न रोका जा सके तथा विश्वशाति की बुनियाद मजबूत न बनाई जा सके।

अनमोल मानव जीवन

यही वह जीवन है, जहा ससार के गतिचक्र मे भटकती हुई आत्मा अपने उत्थान के लिए सघर्ष कर सकती है ओर विकारो को काट कर चरम विकास को भी प्राप्त कर सकती है। चूकि विकास का विवेक और प्रयासो की सफलता इस जीवन मे चोटी तक पहुच सकती है, मानव–जीवन की सबसे बडी विशिष्टता है। इसलिए यह दुर्लभ है कि जहा मनुष्य को अपनी प्रगति-दिशा का सकेत मिलता है, अन्तिम विकास तक को पा लेने की शक्ति मिलती है।

मानव–जीवन की भौतिक शक्तियो के पा लेने मे विशेषता नहीं है, पाकर उन्हे निस्पृहभाव से त्याग देने मे उसकी परम विशेषता रही हुई है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) मे कहा है–

जे य कत्ते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, सेदु चाई त्ति वुच्चई।।

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थो को प्राप्त करके भी उन्हें आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धनसग्रह जहा दु ख-क्लेश का मूल है, वहा उसी धन को निस्पृह भाव से त्याग करने मे महान् आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धान्त से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल मे अपने-आपको फसा कर मानव–जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दो मे "तिल की खल को पकाने के लिए अमूल्य रत्नो के पात्र का उपयोग करने वाले, ओक की खेती के लिए कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने-आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन मे आत्मोत्थान के सभी सयोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर ध्यान न देकर धन–लिप्सा व मिथ्या व्यामोहो मे फस जाना अपनी ही आत्मा के साथ भीषण विश्वासघात करना ओर मानव–जीवन की अनुपम विशिष्टता को व्यर्थ ही में खा देना हे।

आज का ससार, जो केवल भौतिक पदार्थो की प्राप्ति मे ही सुख के अस्तित्व ओर मानव–जीवन की सफलता मानता है, वह अवश्य ही मिथ्या–भ्रमणा मे है और इस तरह मानव–जीवन की यथार्थ महत्ता नष्ट हो रही है। मानव–जीवन ओर जगत का विशाल धरातल मानव को सच्चे सुख की अनुभूति उसी समय करा सकेगे, जब धर्म के मर्म को समझ कर जीवन की दिशा विशुद्ध धर्माचरण की ओर मोडी जायगी।

समझ लो ! परख लो !!

❖ ❖ ❖

विवेकशील व्यक्ति सुख और दु ख दोनो मे तटस्थ वृत्ति रखते हैं। वे जानते हैं कि शुभ कर्मो के उदय से सुख और अशुभ कर्मो के उदय से दु ख प्राप्त होता है तथा कर्म–बधन का कारण उसकी ही निज की आत्मा है, अत निज के किये हुए कर्मो का फल शात भाव से ही सहन करना चाहिए। यह विचारणा ही मनुष्य के जीवन को सतुलित बनाये रख सकती हे अन्यथा जीवन अत्यत ही विशृखल व विषम अवस्था वाला हो जाएगा।

सुख ओर दु ख का अनुभव विशेष रूप से मनुष्य के हृदय- निर्माण पर निर्भर करता है। दु ख मे मनुष्य यदि सही रूप मे सोचे तो विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किसी कवि ने कहा भी है–

दु ख है ज्ञान की खान मानव।

शात बुद्धि और दृढ भावना के आधार पर दु ख से नई–नई शिक्षाए मिलती हें ओर यहा तक कि वे शिक्षाए इतनी अमिट रूप से अकित हो जाती हें कि भावी–जीवन के विकास–हित वे वरदान–रूप सिद्ध होती हें। अधिकाशत सुख और दु ख की अनुभूतिया चित्त के विशिष्ट मनोभावो के कारण ही होती हैं। एक ही स्थिति व वस्तु मे सुख व दु ख का अनुभव किया जा सकता है। यह तो अनुभव करने वाले पर निर्भर है कि वह चित्त को किस प्रकार से सतुलित रखता है ?

इस सिलसिले मे आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सुख आर दु ख की काल्पनिक अनुभूति के परे ही आत्मानन्द का निवास हे एव जव आत्मानन्द का सचार होता हे तभी पूर्ण स्वतन्त्रता की मजिल का चमकता हुआ सिरा दिखाई देता हे।

वधुओ । इसी प्रकाश को पाने के लिए हमे सुख ओर दु ख के वास्तविक रहस्य को समझ कर अपने जीवनपथ का निर्माण करना चाहिए।

भले ही देर हो, किन्तु.....

❖ ❖ ❖

झूठ सदा डरने वाला होता है, क्योकि रहस्य खुल जाने के भय की तलवार हमेशा उसके सिर पर लटका करती है। झूठ की हमेशा रक्षा करते रहने के लिए मनुष्य कुटिलता का सहारा लेता है और उसके सहारे से वह धोखेबाजी और विश्वासघात मे सफल बनता देखा जा सकता है।

परन्तु इस सारी परिस्थिति के साथ यह नग्न सत्य भी मजबूती से जुडा हुआ है कि असत्य--अधर्म का भडा फूटता है। लाख तौर--तरीको से छिपाई हुई बात भी एक दिन बिना प्रगट हुए नहीं रहती दिखाई देती है। यह अवश्य हे कि इस कुटिलता मे जो कुशल हुआ तो उस छिपावट की मियाद भले ही बढ जाती हे लेकिन मियाद तो मियाद ही ठहरी, एक दिन तो खत्म हो जाने वाली है।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात भी कोई यह शका व्यक्त कर सकता है कि माना बुराई छिपती नहीं और आखिरकार प्रकट होकर ही रहती है किन्तु प्रत्यक्ष में तो इस दुनिया मे सच्चे आदमी को हर जगह निराश होकर ठोकरे खानी पडती हैं।

ऐसी शका करने वालो की कठिनाई को समझा जा सकता है। क्योकि आज विपरीत वृत्तियो की बाढ वर्तमान जागतिक वातावरण मे कुछ ऐसी आई है कि झूठे और अवसरवादी बिना कुछ किये अच्छे लाभ (भोतिक) उठा लेते हें ओर सच्चे एव सेवाभावी व्यक्ति कुटिल प्रपचो मे फसा दिये जाकर दु खी वना दिये जाते हैं। परन्तु इस स्थिति के होते हुय भी यह तथ्य हृदय मे दृढतापूर्वक बिठा दिया जाना चाहिये कि सत्य वह ज्योति है जो कभी भी, किसी के द्वारा किसी भी दशा मे, किन्हीं भी उपायो से बुझाई नहीं जा सकती। ससार उस प्रकाश के समक्ष नतमस्तक होता हुआ हर युग मे देखा गया है।

शांति का निवासस्थान

❖ ❖ ❖

शाति जीवन--विकास के लिए एक प्रमुख आवश्यकता हे ओर जव तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क में शाति के सचार का प्रयास नहीं करेंगे, आपत्तियो के तूफान मे पडकर कभी हम आत्मोन्नति की

ओर ध्यान दे ही नहीं सकगे। सच्ची शान्ति के लिए विकृत मनोविकारो का आवरण हटाना होगा, राग—द्वेष, मोह—माया, तृष्णा—स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियो का त्याग करके हृदय को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो भी महापुरुप शाति की परम स्थिति को पहुचे है उनके स्पष्ट अनुभव हैं कि ज्यो—ज्यो मनुष्य निजी स्वार्थो को भूलकर परहित मे अपने स्वार्थो को विसर्जित करता चला जाता हे, त्यो—त्यो वह शाति की मजिल के समीप पहुचता हे। इसके साथ ही, अपने ही स्वार्थ मे निरत रहने पर जीवनाकाश को अशाति के बादल ही घेरे रहते हैं। इस रहस्य मे आत्मा की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमे मिलता है। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और इसलिए ऐसे कार्य सपादित करने मे उसे आनन्द व शाति की प्राप्ति होती है, जो उसके नीचे गिराये रहने वाले भार को हल्का करते हैं। अपने दृष्टिकोण से दूसरो के लिए सोचना— यह सकुचित मनोवृत्ति आत्मा को पतन की राह पर नीचे ढकेलने वाली होती है। चाहे इस दृष्टिकोण मे प्रत्यक्ष सुख दिखाई देता हो सकता है, किन्तु वह केवल सुखाभास होगा। दूसरो के दृष्टिकोण से अपने को भी सोचना— यह हृदय की विशालता का लक्षण है और चूकि इसमे किसी भी प्रकार की विकृति की छाप नहीं होती, आत्मा को आन्तरिक सुख व स्थायी शाति प्रदान करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्तरिक स्थायी शाति का निवास स्वार्थ—त्याग तथा आत्म—बलिदान मे ही रहा हुआ है।

अनिवार्य आवश्यकता

धर्म की दिशा मे आगे बढने का सबसे पहला और सबसे ऊचा साधन है कि अन्त करण को निर्मल एव शुद्ध बनाकर धर्म के लिये समुचित धरातल का निर्माण किया जाय। धर्म की दिशा को समझकर उसके अनुकूल धरातल का निर्माण नहीं करना और धर्माराधना का प्रयास करना अयोग्यता का सबूत देना हे। धर्म की दिशा मे आगे बढने से पूर्व यह सोचा जाना परम आवश्यक है कि मैं इस दिशा मे बढने की भावना रखता हू या नहीं।

अन्त करण की शुद्धि के लिये मनुष्य को अपने अन्तरतम मे झाकना होगा, अपनी आलोचना स्वय करनी होगी और देखना होगा कि वह अपने विकारो को किस प्रकार नष्ट करके पवित्रता के स्वरुप को पहचान पायगा ? उसे परखना होगा कि उसने धर्म के आह्वान के लिये योग्य भूमिका की रचना

कर ली है। इस हेतु उसे अपने हृदय की विशुद्धता के विविध उपायो पर दृष्टिपात करना होगा।

धर्म के धरातल का निर्माण अन्त करण की शुद्धि पर आधारित होना चाहिये जिसके साधन हैं– आत्मलाघवता, विनम्रता, निष्कामवृत्ति आदि। जब तक मनुष्य अपने भीतर सहज विनम्रता व लाघवता का अनुभव नहीं करता, वह स्पष्ट रूप से तब तक अपने दोषो को नहीं पहचान सकता है, आत्म–प्रवचना उसे भुलावा देती रहेगी। धर्म का मूल स्वरूप हमारे विशुद्ध मूल स्वभाव की मार्मिकता को पाने के लिये दोषरहित हृदय मे निष्काम वृत्ति से प्रवेश होना चाहिए। कामनाओ से मुख मोडना ही एक तरह से विषमय सासारिकता को छोडना है और आत्मोत्थान के मार्ग पर आगे बढना हे।

इस दृष्टिबिन्दु से जब वर्तमान समाज की परिस्थितियो का अध्ययन किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज के धार्मिक व पुण्य कृत्यो मे अधिकतर कीर्तिलिप्सा की दुर्गन्ध है। अपना नाम कमाने के लिए लोग लाखो की सपत्ति भी दे देगे, चाहे उसका सदुपयोग हो अथवा नहीं। किन्तु जहा सच्ची आवश्यकता है, पर नाम कमाने का सुअवसर नहीं, तो कम ही उदाहरण सामने आते हैं।

नवीनता के अनुगामियों से

❖ ❖ ❖

वास्तविक कल्याणमार्ग की ओर आगे बढने से ही जीवन मे नवीनता का उद्भव हो सकता है, क्योकि जागतिक विकृतियो मे फसकर आत्मा अत्यधिक जीर्ण–सी बन गई है। उसमे नवीनता लाने के लिये शास्त्रीय, सनातन व सत्यरूपी जीवनौषधि की आवश्यकता है। इस अवसर को हाथ से न जाने दे। तो क्या आप इस चेतावनी से सचेत होकर आगे बढने के लिये तैयार हैं ? सासारिकता मे निरतर डोलते हुए चचलचित्त को नियत्रित करके विकास के लक्ष्य की ओर स्थिर करने के लिये क्या उद्यत हें ? क्योंकि आपकी इस प्रकार की तेयारी ही नवीनता की तरफ गति करने का लक्षण होगी।

प्रचलित परिपाटियो मे इधर–उधर से जो विकार आ जाते हें उनको हटाने ओर चेतना जागृत करने के लिये मूल स्थिति के रक्षणपूर्वक जो भी विवेकसहित परिवर्तन लाये जाते हें उन्हे भी नवीनता की सज्ञा दी जा सकती हे। इन अर्थो मे नवीनता का यह अभिप्राय होना चाहिये कि जो

परिवर्तन ओर एकरूपता को सतुलित रखती हुई मनुष्य की सही जिज्ञासावृत्ति को सतुष्ट करती हे ओर उसे सत्यलक्ष्य की ओर प्रवृत्त होने मे जागृत रखती हे। ऐसी सच्ची नवीनता है ओर उसके अनुगामी जीवन के सही प्रगतिमार्ग को निष्कटक बनाते हैं।

यदि मनुष्य ने हृदय के अपवित्र विचारो को नहीं छोडा अपने आपको स्थिर– चित्त बनाकर जीवन के महत्त्व को नहीं समझा और सही कर्तव्याकर्तव्य का भी भान नहीं रखा तो उसके लिये केवल भौतिकवादी नवीनता निस्सार ही सिद्ध होगी।

नवीनता के अनुगामियो मे जीवन–विकास की ऐसी एकनिष्ठा होनी चाहिये कि ससार के कोई भी प्रलोभन उनके लिये अग्राह्य हो।

अत इस अवसर पर निष्कर्ष रूप मे यही कहना चाहता हू कि आप सच्चे त्यागमय जीवन की जागृति करे ताकि जीवन को सच्चे अर्थो मे सफल बना सके। व्यावहारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन, दोनो का सम्यक् सन्तुलन ओर सही अर्थो मे समन्वय जीवन मे स्थापित कर आत्मीय सर्वांगीण विकास कर सके। आध्यात्मिक जीवन की आधारशिला शुद्ध व्यावहारिक जीवन पर टिकी हुई है– जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा'। अत व्यावहारिक जीवन मे भी सत्य-नवीनता फूकना उतना ही आवश्यक है।

आत्मदर्शन का साधन

देह और आत्मा का अभेद समझने की मूढदृष्टि जब तक विद्यमान रहती है तब तक बहिरात्म दशा बनी रहती है। यह घोर अज्ञान का परिणाम है। सर्वप्रथम आत्मा के पृथक् अस्तित्व को समझना आवश्यक है। अन्तरात्मा बनने के लिये आपको मानना चाहिये कि देह अलग हे और मैं अलग हू। देह के नाश मे मेरा नाश नहीं हे। देह की दुर्बलता मेरी दुर्बलता नहीं हे। देह पुद्गलो का परिणमन हे ओर इस कारण क्षण–क्षण मे परिवर्तनशील है, नाशवान है। मैं अविनाशी हू, अनन्त हू, अक्षय हू, अनन्त आनन्द और चैतन्य का आगार हू।

अन्तरात्म दशा प्राप्त होने पर जीव के विचार और व्यवहार मे बडा अन्तर आ जाता हे। यह नाशशील दु ख के बीज और आत्मा को मलिन बनाने वाले सासारिक सुख की अभिलाषा नहीं करता, उसमे आसक्त नहीं होता। अन्तरात्मा-जीव का विवेक जब परिपक्व होता ह तो सासारिक सुख से

अरुचि हो जाती है। तब आत्मा अपने ही स्वरूप मे रमण करने लगती है। दिव्यज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और दिव्यशक्ति प्रकट होने पर जो आनन्द मिलता है, वही ज्ञानानन्द है। इस ज्ञानानन्द मे मग्न रहने वाली आत्मा समस्त उपाधियो से विमुख हो जाती है।

उस अवस्था को इन शब्दो मे व्यक्त कर सकते हैं– वह परम आत्मा अनन्त सुख से सपन्न, ज्ञानरूपी अमृत का स्रोत, अनन्तशक्ति से समन्वित है, उसमे किसी प्रकार का विकार नहीं है, उसके लिये किसी आधार की आवश्यकता नहीं है, वह समस्त पर-पदार्थो के ससर्ग से रहित है और विशुद्ध चैतन्य स्वरूपी है।

आत्मा का समर्पण करने से आत्मा की उपलब्धि होती है, उसका स्वरूप अधिकाधिक निर्मल रूप से समझ मे आने लगता है।

नवीनता और प्राचीनता का भाष्य

प्रचलित परिपाटियो मे इधर–उधर से जो विकार आ जाते हैं, उनको हटाने और चेतना जागृत करने के लिए मूल स्थिति के रक्षणपूर्वक जो भी विवेकसहित परिवर्तन लाये जाते हैं, उन्हे भी नवीनता की सज्ञा दी जा सकती है। इन अर्थो मे नवीनता का यह अभिप्राय होना चाहिए कि जो परिवर्तन और एकरूपता को सतुलित रखती हुई मनुष्य की सही जिज्ञासावृत्ति को सतुष्ट करती हे और उसे सत्य लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होने मे जागृत रखती है, उसके अनुगामी जीवन के सही प्रगतिमार्ग को निष्कटक बनाते हें।

जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हो, शुद्धसयमी जीवन की उपयोगिता के लिए समाज व व्यक्ति मे जीवन का सन्देश फूकने वाले हो, उन्हे बहुत वर्षो के बने हुए होने पर भी नवीन ही समझना चाहिए। किन्तु विवेक एव आत्म–ज्योति को भुलाने वाले नवीनता के नाम पर विकारी भाव व स्वार्थ के पोषक, नेतिक भावहीन सुन्दर शब्दो मे नवीन बने हुए कितने भी नियमोपनियम हो, वे प्राचीन शव्द से कहे जाने चाहिए। इन शब्दो मे समय का मापदड ठीक नहीं हो सकता, किन्तु सयमी जीवन की उपयोगिता का मुख्य महत्त्व होता है।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिए ग्रहण करनी चाहिए ओर नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरों पर प्रगट करना चाहिए तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है। ☐☐